56/1-2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

1 अध्यात्म-पद 1

2 अहिंसा स्वरूप एवं व्यवहार
डॉ. प्रेम सुमन जैन उदयपुर 2

3 समयसार-तात्पर्यवृत्ति एक चिन्तन
-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन 8

4 जैन साधु कौन नग्न - कौन भग्न
डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल 20

5 आचार्य रविषेण और उनका पद्मपुराण एक अनुचिन्तन
डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी" 27

6 हरिवंशपुराण पर आधारित रचनायें
डॉ. रमेशचन्द जैन 38

7 डॉक्टर जगदीशचन्द्र जैन व्यक्तित्व और कृतित्व
डॉ. ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार" 44

8 प्रथम शताब्दी में जैन धर्म का विकास
रजनीश शुक्ल 54

9 तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण-नय मीमांसा
डॉ. जयकुमार जैन 69

10 क्या 'चन्द्रोदय' और 'न्यायकुमुदचन्द्र' का रचयिता एक है?
डॉ. कमलेशकुमार जैन दिल्ली 85

11 जैन रहस्यवाद
डॉ. श्रीमती सूरजमुखी जैन 90

12 कवि नथमल कृत 'दर्शनसार-भाषा'
डॉ. वीरसागर जैन 97

13 अध्यात्म एवं चिकित्सा-विज्ञान की जुगलबंदी
प्राचार्य निहालचंद जैन 103

14 पाँच दशक पूर्व आचार्य सूरसागरजी की अध्यक्षता में सम्पन्न त्यागी-व्रती सम्मेलन निर्णयों की सार्थकता
डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल 109

15 सुख और शान्ति का मूल शाकाहार
-डॉ. सुषमा 113

16 भगवान महावीर की जन्मभूमि विदेह - कुण्डलपुर
प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन 122

वर्ष 56, किरण-1-2
जनवरी-जून 2003

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/-

इस अंक का मूल्य 10/-

सदस्यों व मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर. 10591/62)

अध्यात्म-पद

चित चिंत के चिदेश कब, अशेष पर बमू।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमू।। चित.।।

तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं।
कब राग-आग शर्म बाग दाघनी शमूं।। चित.।।

दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं।। चित.।।

जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं।
दलके त्रिसस्ल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमू।। चित.।।

कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं।
जिन दूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं।। चित.।।

-कविवर दौलतराम

अहिंसा : स्वरूप एवं व्यवहार

-डा. प्रेम सुमन जैन

अहिसा-सस्कृति प्रधान जैनधर्म मे समता, सर्वभूतदया, संयम जैसे अनेक शब्द अहिंसा आचरण के लिए प्रयुक्त है। वास्तव में जहां भी राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलायी पड़ेगी वहा हिंसा किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जाएगी। सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता और घृणा का परिहार प्रेम, उदारता और सहानुभूति के बिना सभव नही है। प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओ का निराकरण सयम द्वारा ही सभव है। इसी कारण जैनाचार्यो ने तीर्थ का विवेचन करते हुए कषायरहित निर्मल संयम की प्रवृत्ति को ही धर्म कहा है। यह सयमरूप अहिसाधर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों मे समता और शान्ति स्थापित कर सकता है। इस धर्म का आचरण करने पर स्वार्थ, विद्वेष, सन्देह और अविश्वास को कही भी स्थान नही है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो का परिष्कार भी संयम या अहिंसक प्रवृत्तियों द्वारा ही सभव है। कुन्दकुन्द स्वामी ने बताया है-

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तव णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण॥ -बो. पा., गा. 27

राग-द्वेष का अभावरूप समताचरण ही व्यक्ति और समूह के मूल्यो को सुस्थिर रख सकता है। आत्मोत्थान के लिए यह जितना आवश्यक है, उतना ही जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओ के समाधान के लिए भी। वर्गभेद, जातिभेद आदि विभिन्न विषमताओं मे समत्व और शान्ति का समाधान समता या समाचार ही है। मानवीय मूल्यों में जीवन को नियंत्रित और नीतियुक्त बनाये रखने की क्षमता एकमात्र समता युक्त अहिसाचरण में ही है। युद्ध, विद्वेष और शत्रुता से मानव समाज की रक्षा करने के हेतु विधायक शब्द का प्रयोग करे तो वह शब्द समाचार है। कुटुम्ब, समाज, शिक्षा, व्यापार, शासन, सगठन

प्रभृति में जो मर्यादा और नियमों की प्रतिष्ठा करता है, मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है और प्राणि-जगत् मे सुखकल्याण का प्रादुर्भाव करता है।

मूलाचार ग्रन्थ मे समाचार की महत्ता को बतलाते हुए लिखा है-

समदा समाचारो सम्माचारो समो वा आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो॥ -गा. 123

अतएव स्पष्ट है कि अपने देश की गौरवपूर्ण परम्पराओं के अनुकूल विश्व-शान्ति के लिए समताचार अहिसा की साधना अत्यावश्यक है। आज की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों और जीवन मूल्यों के अनुसार समाज और समूह के सघर्ष की समाप्ति का एक मात्र उपाय अहिंसाचरण ही है।

अहिसा के विषय मे जैन सस्कृति पग-पग पर सन्देश देती हुई अग्रसर होती है। जैन सस्कृति के वरिष्ठ विधायको के अन्त:करण में समूचे विश्व को ही नहीं, प्राणीमात्र को सुखी देखने की लालसा थी। यह उनके अन्त:करण की पुकार थी। गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति। यह अनुभूति शुद्ध प्रेम की अनुभूति थी, रागमुक्त प्रेम की। प्रेम का यही रूप सार्वभौमिक होता है। यह एक के प्रति नही, समस्त के प्रति होता है। तभी प्राणीमात्र का स्पन्दन अपनी आत्मा में सुनाई पडता है। इस स्पन्दन मे सुख भी होता है, अपार दु:ख भी। और तभी उस अपार दु:ख के प्रति अन्तरंग की गहराइयो से करुणा फूट पड़ती है। व्यक्ति विशेष से निकलकर समष्टि के रूप मे दु:ख-निवारण की बात सोचने लगता है। यही अहिसा के जन्म की पृष्ठभूमि है।

अहिंसा की मूलभावना प्राणिमात्र को जीने का अधिकार प्रदान करती है। अपने लिये जीना कोई जीवन है? वह तो एक मशीनी जीवन है। जो अपने लिये नही जीता, वास्तव मे वही सबका होकर जीता है। जैन सस्कृति के नियामको का हृदय इसी भावना से अनुप्राणित था इसलिए उन्होंने समवेत स्वर मे कहा-सब जीव संसार मे जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।[1] क्योंकि एक गन्दगी के कीड़े और स्वर्ग के अधिपति-इन्द्र दोनों के हृदय मे जीवन की आकाक्षा और मृत्यु का भय समान है।[2] अत: सबको अपना जीवन प्यारा है।[3] इसीलिए सोते-उठते, चलते-फिरते तथा छोटे-बड़े प्रत्येक कार्य को करते हुए

यह भावना हर व्यक्ति की होनी चाहिए कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है तो दूसरों को भी सुख भोगने का अधिकार है। जब मुझे दुःख प्यारा नहीं है तो संसार के अन्य जीवों का कहां से प्यारा होगा?[4] अतः स्वानुभूति के आधार पर हिंसात्मक प्रवृत्तियों से हमेशा बचकर रहना चाहिए।[5]

कितनी उदात्त भावना है उन महामानवों की। मानवता यहा चर्मोत्कर्ष पर पहुंच जाती है। **'जियो और जीने दो'** यह अहिंसा का स्वर्णिम-सूत्र उसी सर्वभूतदया की भावना से प्रसूत है, जहा जीव के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। अन्य सस्कृतियो के करुणा की भावना अवश्य है, प्रसंगवश हिंसा विरोधात्मक उपदेश भी दिये गये है, किन्तु उनमें जैनधर्म की इस उदारता की मिशाल पाना कठिन है। इसीलिए शायद जीवदया की क्रिया सबसे श्रेष्ठ एव चिन्तामणि रत्न के समान फल देने वाली मानी गयी है।[6] तथा अहिंसा के माहात्म्य से मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है, यह स्वीकृत किया गया है।[7]

अहिंसा-स्वरूप :

अहिसा क्या है? इस प्रश्न को जैनाचार्यो ने बड़ी सूक्ष्म और सरल विधि से समझाया है। सर्वप्रथम उन्होने हिंसा का स्वरूप निर्धारित किया। तदुपरान्त उससे विरत होने की क्रिया को अहिंसा का नाम दिया। बात ठीक भी है, जब तक हम वस्तु के स्वरूप को न समझ लें, उससे सम्भावित हानि-लाभ से अवगत न हो जाये तब तक उसे छोड़ने/ग्रहण करने का प्रश्न ही कहां उठता है।

हिंसा का सर्वागंपूर्ण लक्षण अमृतचन्द्राचार्य के इस कथन में निहित है-कषाय के वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणो का घात करना हिंसा है।[8] यह लक्षण समन्तभद्राचार्य द्वारा प्रणीत अहिंसाणुव्रत के लक्षण जैसा ही परिपूर्ण है। सर्वार्थसिद्धि एव तत्त्वार्थ-राजवार्तिक मे इसी का समर्थन किया गया है। अहिंसा और हिंसा का जैसा वर्णन पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय मे है वैसा पूर्व या उत्तर के ग्रन्थो में नहीं मिलता है।[9]

उपर्युक्त हिंसा के लक्षण में मन की दुष्प्रवृत्ति पर अधिक जोर दिया गया है। क्योंकि अन्तस् की कलुषता ही हिंसा को जन्म देती है। इसी बात को

आचार्य उमास्वामी ने इस कथन से स्पष्ट किया है-

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।[10]

प्रमादवश प्राणो के घात करने को हिंसा कहते हैं। प्रमत्त शब्द मन की कलुषता, अज्ञानता, असावधानी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। गृहस्थ जीवन मे मनुष्य नाना क्रियाओ का प्रतिपादन करता है। किन्तु सभी क्रियाएं सावधानी और संयम-पूर्वक नहीं होती। अनेक कार्यो को करते हुए मन में कषायभाव, कटुता उत्पन्न हो जाती है। इससे आत्मा की निर्मलता धुधली पड़ जाती है। भावनाओ मे विकार उत्पन्न हो जाते है। इन्हीं दुष्परिणामों से युक्त हो कोई कार्य करना हिंसा है। क्योकि दुष्परिणामी व्यक्ति के द्वारा भले दूसरे प्राणियो का घात न हो लेकिन उसकी आत्मा का घात स्वयमेव हो जाता है। इसी अर्थ मे वह हिसक है।[11] क्योंकि किसी दूसरे से किसी दूसरे का प्राण-घात सम्भव ही नही है।[12]

प. आशाधरजी ने हिसा की व्याख्या और सरल शब्दो में की है। उनका कथन है-संकल्पपूर्वक व्यक्ति को हिंसात्मक कार्य नही करना चाहिए। उन सब कार्यो व साधनों को, जिनसे शरीर द्वारा हिंसा, हिसा की प्रेरणा व अनुमोदन सम्भव हो, यत्नपूर्वक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। यदि वह गृहस्थ जीवन मे उन कार्यो को नहीं छोड़ सकता तो उसे प्रत्येक कार्य को करते समय सतर्क और सावधान रहना चाहिए।[13] देवता, अतिथि, मन्त्र, औषधि आदि के निमित्त तथा अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियो का घात नहीं करना चाहिए।[14] क्योंकि अयत्नाचार पूर्वक की गई क्रिया में जीव मरे या न मरे हिंसा हो ही जाती है। जबकि यत्नाचार से कार्य कर रहे व्यक्ति को प्राणिवध हो जाने पर भी हिंसक नहीं कहा जाता है।[15] वस्तुत: हिसा करने और हिंसा हो जाने मे बहुत अन्तर है। निष्कर्ष यह, संकल्पपूर्वक किया गया प्राणियो का घात हिंसा है, और उनकी रक्षा एवं बचाव करना अहिसा।[16]

अहिंसा के प्रतिपादन मे जैन-साहित्य मे बहुत कुछ कहा गया है। इसमे प्रधानत: प्राणीमात्र के कल्याण की भावना निहित है। अन्य धर्म व संस्कृतिया अहिंसा का घोष करती हुई भी हिंसात्मक कार्यों में अनेक बहानों से प्रवृत्त

देखी जा सकती है। किन्तु जैन संस्कृति जो कहती है, वही व्यवहार मे उतारने की कोशिश करती है। यही कारण है जैनाचार्यो ने समय की गतिविधि को देखते हुए अनेक वैदिक अनुष्ठानों व हिसात्मक कार्यो का विरोध किया है। यह विरोध जैन धर्म में सर्वभूतदया की भावना का ही प्रतिफल है।

अहिसा को जैनधर्म में व्रत माना गया है। वस्तुतः हिंसात्मक कार्यो से विरत होने मे कठिनता का अनुभव होने से ही अहिंसा को व्रत कह दिया गया है, अन्यथा करुणा, अहिसा तो दैनिक कार्यो एव सुखी-जीवन का एक आवश्यक अंग है-वह मानव की स्वाभाविक परिणति है। उसे व्रत मानकर चलना उससे दूर होना है। अहिसा तो भावों की शक्ति है। आत्मा की निर्मलता एवं अज्ञान का विनाश है।

कोई भी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में अचानक परिवर्तन लाकर अहिसा को उत्पन्न नही कर सकता। अहिंसा का उत्पन्न होना तो आत्मा में परिवर्तन होने के साथ होता है। आत्मा के परिवर्तन का अर्थ है, उसे पहिचान लेना। यह पहिचान ही निजको जानना है, सारे विश्व को जानना है। जब व्यक्ति इस अवस्था पर पहुँच जाता है तो समस्त विश्व के जीवो के दुःख का स्पन्दन उसकी आत्मा में होने लगता है। यह करुणामय स्पन्दन होते ही हिसा स्वय तिरोहित हो जाती है। उसे हटाने के लिए कोई अलग से योजना नही करनी पड़ती। अहिंसा उत्पन्न हो जाती है।

हिंसा की निवृत्ति और अहिंसा के प्रसार के लिए जैन धर्म में गृहस्थों को अनेक व्रत-नियमों को पालन करने का उपदेश दिया गया है। प्रत्येक कार्य को सावधानी पूर्वक करने एवं प्रत्येक वस्तु को देख-शोधकर उपयोग में लाने का विधान गृहस्थ के लिए मात्र धार्मिक ही नहीं व्यावहारिक भी है।[17] जीवों के घात के भय से जैन गृहस्थ अनेक व्यर्थ की क्रियाओं से मुक्ति पा जाता है। प्रत्येक वस्तु को देखभाल कर काम में लाने की आदत डालने से मनुष्य हिसा से ही नहीं बचता, किन्तु वह बहुत-सी मुसीबतों से बच जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यो ने अनर्थदण्डव्रतों का विधान किया है। रात्रिभोजन के त्याग का विधान भी इसी प्रसंग में है।[18] इस अवलोकन से स्पष्ट

है कि जैन धर्म की अहिंसा मात्र धार्मिक न होकर व्यावहारिक भी है।

सन्दर्भ

1 सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउ न मरिज्जिउ।.

2 अमेध्यमध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना, जीविताकाक्षा सम मृत्युभयोर्द्वयो:।। -आचार्य हेमचन्द्र.

3 सव्वेसि जीविय पिय - आचारागसूत्र 1-2 92-93

4 जह मम न पिय दुक्ख, जाणिय एवमेव सव्वजीवाण।

5 स्वीकीय जीवित यद्वत्सर्वस्य प्राणिनइ प्रियम्।
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिसा परित्यजैत्।।
-उपासकाध्ययन कल्प 24 श्लोक 292, पद्मपुराण पर्व 14 श्लोक 186

6 एकाजीवदयेकत्र परत्र सकल: क्रिया।
पर फल तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणिरिव।। पद्मपुराण पर्व 14, श्लोक 361

7 आयुष्मान्सुभग: श्रीमान्सुरूप: कीर्तिमान्नर:।
अहिसाव्रतमाहात्मूयादैकस्मादेव जायते।। 362।।
-उपासकाध्ययन कल्प 26

8. यत्खलु कषाययोगात्प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिसा।।
-पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 43

9 उपासकाध्ययन -सम्पादक की प्रस्तावना, प। 68-69, 10 तत्वार्थसूत्र 13

11 स्वयमेवात्मनात्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्व प्राण्यन्तराणा तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध:।।

12 समयसार, गाथा 262 की टीका, 13 सागारधर्मामृत, अध्याय 4, श्लोक 8,9,10

14 देवतातिथिप्रस्त्यिर्थ मन्त्रोषधिभयायवा।
न हिस्या: प्राणिन: सर्वे अहिसानाम सत व्रतम्।। सरग, 15,112
-अमितगति श्रावकाचार परि 6, उपासकाध्ययन कल्प 2

15 मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिसामेत्तेण समिदस्स।।

16. उपासकाध्ययन-कल्प 26, श्लोक 318

17. गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत।
द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत्।। -उपासकाध्ययन कल्प 26, श्लोक 321

18. निशायामश्न हेयमहिसाव्रतवृद्धये।
मूलव्रतविशुद्धयर्थ यमार्थपरमार्थत:।। -सागारधर्मामृत, श्लोक 241

-29, उत्तरी सुन्दरवास
उदयपुर-313001

समयसार-तात्पर्यवृत्ति : एक चिन्तन

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

अध्यात्म की अजस्र धारा प्रवाहित करनेवाला श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत "**समयसार**" आत्मतत्त्व प्ररूपक ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। इसका मंगलाचरण करते हुए ग्रंथकार ने "**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं**" प्रतिज्ञा वाक्य लिखा है, जिसके आधार पर ग्रन्थनाम '**समयपाहुड**' अवगत होता है। प्राकृत पाहुडं की संस्कृत छाया 'प्राभृतम्' है समय + प्राभृतम् दोनो शब्दों के संयोग से कृति संज्ञा 'समयप्राभृतम्' हुई। 'समयप्राभृतम्' संज्ञा की सार्थकता जानने के लिये समय और प्राभृत दोनों शब्दो की निरुक्तियां अपेक्षित हैं। '**समयते एकत्वेन युगपत् जानातीति**' इस निरुक्ति के अनुसार समय शब्द का अर्थ "**आत्मा**" निष्पन्न होता है। अथवा '**समएकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छति**' इस निरुक्ति से समय शब्द का अर्थ समस्त पदार्थो में घटित होता है, क्योंकि पदार्थ अपने ही गुण पर्यायों को प्राप्त है। दूसरी व्युत्पत्ति '**सम्यक् अयः बोधो यस्य सः भवति**' समय "**आत्मा**" अर्थात् समीचीन बोध होता है जिसका, वह समय है समय शब्द का अर्थ आत्मा है। आत्मा ही जानने वाला है और इसका स्वभाव सर्व पदार्थो का सत्तात्मक बोध है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी निर्मल आत्मा को समय कहा है।[1] प्राभृत शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकर्षेण आसमन्ताद् भृतमिति प्राभृतम्' अर्थात् प्रकर्षरूप से सभी ओर से भरा हुआ अथवा प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तद्भिदाभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमितिवा प्राभृतम्"[2] विद्याधनयुक्त महान् आचार्यो के द्वारा जो धारण किया गया है, वह है प्राभृत। प्राभृत का अर्थ शास्त्र है। दोनों शब्दों का समास करने पर अर्थ होगा आत्मा का शास्त्र। आचार्य जयसेन ने 'प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतम् अथवा समय एवं प्राभृतम् समयप्राभृतम्' लिखकर आत्मा की शुद्धावस्था अर्थ किया है।[3]

इस ग्रन्थराज पर सर्वप्रथम आध्यात्मिक जागृति के अग्रदूत महाकवीश्वर

विशिष्ट भाषाविद् असाधारण प्रतिभाशील आचार्यवर्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने दण्डान्वय प्रक्रिया का आश्रय लेकर आत्मख्याति नामक टीका लिखी। इसकी भाषा समास बहुल है। दार्शनिक प्रकरणों के कारण सामान्यजनों के लिए दुरूह हो गयी है। इस टीका में 'समयसार' को नाटक का रूप दिया गया है। टीकाकार ने नाटकीय निर्देशों को पूरा पूरा स्थान दिया है। यथा पीठिका परिच्छेद को पूर्वरङ्. का गया है। कृति को नाटक के समान 9 अंकों (अधिकारों) में विभक्त किया गया है-

(1) जीवाजीव (2) कर्त्ताकर्म (3) पुण्य (4) आस्रव (5) संवर (6) निर्जरा (7) बंध (8) मोक्ष (9) सर्वविशुद्ध ज्ञान।

नवम अंक के अंत में समाप्ति सूचक पंक्तियाँ इस प्रकार है 'इति श्री *अमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको* नवमोङ्कः। नवम अंक के बाद नयों का सामञ्जस्य उपस्थित करने के लिए स्याद्वादाधिकार तथा उपायोपेयभावाधिकार नामक दो स्वतंत्र परिशिष्ट जोड़ दिये गये हैं। यह दर्शाने का टीकाकार का प्रयास है कि जीव अजीव आस्रव आदि नाटक के अभिनेताओं की भूमिका निभाये हुए हैं। द्वितीय अंक के पश्चात् अन्य अंकों के आरम्भ और अन्त में नाटकीय शब्द, जैसे निष्क्रान्तः प्रविशति आदि का प्रयोग किया गया है। साथ में यत्र-तत्र संस्कृत नाटकों में प्राप्त होने वाले अन्य शब्दों का भी सामान्य रूपेण उपयोग है।

आचार्यवर्य अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार की 415 गाथाओं पर टीका लिखी है। टीका के मध्य गाथाओं के सारभूत विषयों को 278 कलश काव्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। कलश काव्य अत्यन्त रोचक एवं भावपूर्ण हैं। कलश काव्यों ने ही टीका को महत्त्वपूर्ण बना दिया और स्वाध्यायीजनों की अभिरुचि जगायी है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि का सम्यक् रूप से अनुगमन करते हुए विलक्षण प्रतिभावान् सिद्धान्तविद् आचार्यवर्य श्री जयसेन स्वामी ने अत्यन्त सरल और सुबोध संस्कृन में सर्वजन संवेद्य तात्पर्यवृत्ति टीका लिखी। यह टीका श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य के भावों के उद्घाटन में पूर्ण सहायक है क्योंकि जयसेनाचार्य आत्मा के शुद्ध

स्वभाव पर मनन करते हुए चले हैं, कहीं कहीं पुद्गल से भिन्नता दिखाते हुए और कहीं कहीं कर्म, कर्मास्रव, कर्मबन्ध आदि स्वभाव का विवेचन करते हुए और कहीं कहीं संवर और निर्जरा का उपाय निदर्शन से टीका ने अध्यात्म विद्या के अध्येताओं को विशिष्ट रूप से प्रभावित किया है।

टीकाकार के रूप में आचार्य श्री जयसेन स्वामी को जो प्रसिद्ध मिली है, वह अद्यावधि किसी ने भी प्राप्त नहीं की क्योंकि टीका लिखने की इनकी अपनी विशिष्ट विधि है। इन्होंने पदखण्डनाविधि को अपनाया है। वस्तुतः टीकाकरण की यही विधि श्रेष्ठ है। इससे मूल की सुरक्षा होती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के मूल शब्दों की संरक्षा में इनकी प्राकृत शब्दानुसारी टीका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने प्राकृत विलक्षणताओं पर पाठकों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। टीका में सुरक्षित मूल ग्रन्थ पाठ विविध भांति से मूल्यवान् है और दीर्घतर पुनरीक्षण के लिये उनकी कर्तव्य निष्ठा वस्तुतः श्रेयस्कर है।

आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने 439 गाथाओं पर तात्पर्य वृत्ति टीका लिखी है। समस्त गाथाओं को कुन्दकुन्द स्वांमी रचित ही मानकर टीका लिखी है। समयसार को दस अधि कारों में विभक्त किया है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने जीवाजीवाधिकार को एक ही माना है, किन्तु आचार्य जयसेन ने इसको दो अधिकारों में विभक्त कर टीका की है जीवाधि कार में 43 गाथाए् और आजीवाधिकार में 30 गाथाएं हैं। इस प्रकार एक अधिकार को दो भागों में विभक्त करने से आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की अपेक्षा इन्होंने एक अध्याय बढ़ा दिया। अन्त में स्याद्वाद अधिकार रूप से ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर जोड़ा है। आचार्य जयसेन की विशेषता है कि प्रत्येक अधिकार या उप परिच्छेद के प्रारम्भ में इन्होंने इस अधिकार का विश्लेषण विषयवस्तुओं के अनुसार गाथाओं की संख्या को भी उपस्थित कर दिया। यथा-"प्रथमतस्तावदष्टविंशतिगाथापर्यन्तं जीवाधिकारः कथ्यते।"[1] अधिकार के अन्त में "इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन जो पस्सदिअप्पाणमित्यादि, सप्तविंशतिगाथाः तदनन्तरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः।"[2]

प्रत्येक गाथा का परिचय पीठिका के द्वारा दिया गया है। इनके द्वारा उपस्थापित

पीठिका सामान्य रूप से गाथा में वर्णित विषय को स्फुट करने में समर्थ होती है। इनकी प्रत्येक गाथा को शब्दश: स्पष्ट करने की शैली महत्त्वपूर्ण है। आचार्यश्री अमृतचन्द्रसूरि ने गाथा को शब्दश: स्पष्टीकरण की शैली को नहीं अपनाया इसलिये उनके द्वारा लिखित **'आत्मख्याति'** सर्वसामान्य को विषयबोध का माध्यम नहीं बन सकी। आचार्य जयसेन का पूर्ण प्रयास आचार्य अमृतचन्द्रसूरि द्वारा प्रस्तुत विषय की सगति रखने में रहा है। तथाहि (उदाहरणार्थ) पद के माध्यम से आचार्य अमृचन्द्र स्वामी के मन्तव्यो को समन्वित करते हुए गाथा की टीका पूर्ण करते हैं। साथ मे कभी कभी अत्राह शिष्य: परिहारम् आह आदि शब्दों के साथ नवीन विवेचनों को जोड़ देते हैं।

आचार्य जयसेन स्वामी ने अनेक स्थलों पर आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का सन्निकट रूप से अनुगमन भी किया है और सुबोध रूप से अधिक बार उनका निर्देश भी किया है। जैसा आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने "सुद्धो सुद्धोदेसो णायव्वो"[3] इत्यादि गाथा की टीका में लिखा है "ये खलु पर्यन्तपाकोत्तीर्ण जात्यकार्तस्वरस्थानीयं परम भावमनुभवन्ति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परपच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयपरमतापानुभवशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादशतया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभाव: शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिका स्थानीयत्वात्परिज्ञायमान: प्रयोजनवान्।" अर्थात् जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सोने के समान वस्तु के उत्कृष्ट असाधारण भाव का अनुभव करते हैं, उनको प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान (पकाये जाते हुए) अशुद्ध स्वर्ण के समान अपरमभाव का अर्थात् अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव नहीं होता। इस कारण शुद्ध द्रव्य का ही कहने वाला होने से जिसने अचलित अखण्ड एक स्वभावरूप एक भाव प्रकट किया है, ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्णावस्था के समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है, परन्तु जो पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के अनुत्कृष्ट मध्यय भाव का अनुभव करते है उनको अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्ट भाव का अनुभव न होने से उस काल में जाना हुआ व्यवहारनय ही प्रयोजनवान् है।

उक्त कथन से परमशुद्धभाव का अनुभव क्षीणमोही मुनि के घटित होता

है। उससे पूर्व सभी अशुद्धभाव में ही हैं। श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से शुद्धोपयोगी मुनि के भी कथञ्चित् परमभाव का अनुभव कहा जा सकता परन्तु छठे सातवे गुणस्थान तक तो शुभोपयोग ही है अतः यहाँ तक तो परमभाव का अनुभव है ही नहीं। आचार्य जयसेन स्वामी ने इसे सरल रूप से प्रस्तुत करते हुए कहा है कि शुद्ध निश्चयनय शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने/अनुभव करने योग्य है क्योंकि वह सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेदरत्नत्रयस्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान् है। समाधि रहित अशुद्धावस्था वालों को व्यवहारनय प्रयोजनवान् है जो लोग अशुद्धरूप शुभोपयोग में जो कि असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सरागसम्यग्दृष्टि लक्ष्यवाला है और प्रमत्त अप्रमत्तसयत की अपेक्षा भेदरन्नत्रय लक्षण वाला है। अतः इनके व्यवहार प्रयोजनीभूत है।

आगे 179,180 गाथाओं की टीका मे आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि जब यह ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत हो जाता है तक उसके पूर्व बद्ध प्रत्यय पुद्गल कर्मो से बंध करा देते हैं। इनकी टीका करते हुए आचार्य जयसेन ने कहा है कि जब तक ज्ञानी जीव की भी परमसमाधि का अनुष्ठान नही हो पाता है, तब तक वह भी शुद्धात्मा के स्वरूप को देखने में जानने मे और वहाँ स्थिर रहने में असमर्थ होता है।

समयसार तात्पर्यवृत्ति में मुख्य रूप से ज्ञानी सम्यग्दृष्टि सप्तम आदि अप्रमत्त गुणस्थानों में माना है किन्तु-

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो अबंधगो भणिदो॥ समयसार 179॥

आत्मा का ज्ञान गुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है अर्थात् स्पष्टतया यथाख्यात दहन को प्राप्त नहीं होता तब तक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अन्यपने को (निर्विकल्पता से सविकल्पता) प्राप्त होता रहता है, इसलिये उस समय वह नवीन बन्ध करने वाला भी होता है।

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने स्पष्ट किया है कि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान गुण से काललब्धि के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह

ज्ञान मिथ्यापने को त्याग कर सम्यग्ज्ञानपने को प्राप्त कर लेता है इसलिये वह ज्ञानगुण अथवा ज्ञानगुण के स्वरूप में परिणत जीव अबन्धक कहा जाता है इस कथन के आधार पर पण्डित जगन्मोहन लाल जी ने अविरतसम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी और अबन्धक स्वीकार किया है। 1 समयसार की गाथाओं में जहाँ भी सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञानी पद आता है वहाँ तात्पर्यवृत्ति में तो वीतरागसम्यग्दृष्टि को स्वीकार किया गया है प्राय: आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी वीतरागसम्यग्दृष्टि अर्थ ग्रहण किया है जैसे-'णत्थि दु आसवबन्धो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि के आस्रव बंध नहीं है, प्रत्युत आस्रव का निरोध है। आस्रव का निरोध राग द्वेष मोह से रहित जीव को ही संभव है अत: दोनों ही आचार्यो को वस्तुत: समयसार में वीतराग सम्यग्दृष्टि इष्ट है।

उक्त 179 नं. की गाथा का विशेषार्थ लिखकर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी ने ययार्थता को उपस्थित किया है वे लिखते हैं-"ज्ञान शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है एक तो यथावस्थित तमर्थ जानातीति ज्ञानम्, दूसरा आत्मानं जानाति अनुभवतीति ज्ञानम्। द्वितीय अर्थ के अनुसार तमर्थ तो समाधिकाल में ज्ञान जब तक अनुभव करता रहता है, तब तक वह ज्ञान कहा जा सकता है। ध्यान समाधि से जहाँ च्युत हुआ कि वह अज्ञान कोटि मे आ जाता है और बन्ध भी करने लग जाता है। तात्पर्यवृत्ति और आत्मख्याति दोनों ही टीकाओ के अनुसार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञान भी इस ज्ञान शब्द से लिया जा सकता है क्योंकि वह भी जीवादि नव पदार्थो का यथार्थज्ञान रखता है किन्तु इस अर्थ के अनुसार गाथा का जो अर्थ यहाँ लिया गया है, वह कुछ खींच कर लिया हुआ सा प्रतीत होता है जिसका समर्थन आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति के अन्य स्थानों से नहीं होता है। स्वयं जयसेनाचार्य ने स्थान स्थान पर यही लिखकर बताया है कि इस ग्रन्थ मे जो वर्णन है, वह गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को लेकर नहीं किन्तु वीतराग (त्यागी) सम्यग्दृष्टि को लेकर किया है।

इस प्रकरण मे जयसेनाचार्य के शब्दों को देखा जा सकता है- "अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणम्" अर्थात् इस ग्रन्थ में वास्तव में वीतरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण है, चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो गौण रूप से तथा मिथ्यादृष्टि

की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और मिथ्यात्व जनित रागादि नहीं है अतः उतने अंश में उसके भी निर्जरा है।[1]

आगे कहा है-''अत्र तु ग्रन्थे पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्''

इस ग्रन्थ में पञ्चम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतरागसम्यग्दृष्टियो का ही मुख्य रूप से ग्रहण है, सरागसम्यग्दृष्टियों का तो गौण रूप से ग्रहण है सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिए।

उक्त कथनों के आधार पर ही डॉ. ए.एन. उपाध्ये जैसे मनीषी ने यहाँ तक लिखा है ''समयसार को गृहस्थो द्वारा पढ़ा जाना तक वर्जित है, क्योंकि ग्रन्थ में भेदविज्ञान जैसे आध्यात्मिक प्रकरण मुख्यतः चर्चित किये गये है, विवेचन शुद्ध निश्चयनय से किया गया है और व्यवहारनय को मात्र सभावनाओ के सुधार हेतु लिखा है। अंततः निश्चयनय मे दिये गये आध्यात्मिक कथन उन गृहस्थों को सामाजिक और नैतिक रूप से हानिकारक हो सकते है, जो आध्यात्मिक अनुशासन से प्रायः पूर्णतःशून्य है।''[2]

आचार्य जयसेन स्वामी ने समयसार गाथाओ मे वर्णित सम्यग्दृष्टि को वीतरागचारित्र वाला मुनि ही स्वीकार किया है। तात्पर्यवृत्ति में गुणस्थान विवक्षा की प्रधानता है किन्तु आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की कहीं भी उपेक्षा न कर उन्हीं का अनुगमन करते हुए प्रायः जयसेनाचार्य लिखते हैं। समयसार गाथा संख्या 306,307 की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुम्भ कहा है, सो तृतीय भूमि में अर्थात् शुद्धोपयोग में कहा है-''तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन'' अर्थात् अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण से परे जो अप्रतिक्रमणरूप तृतीय भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप है।

इसी प्रकरण में जयसेनाचार्य का कथन भी दृष्टव्य है ''सरागचारित्र लक्षण शुभोपयोग की अपेक्षा से ये ही निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रतिसरण आदि कहलायेंगे क्योंकि प्रतिक्रमण आदि शुभोपयोग हैं। ये सब सविकल्प अवस्था में अमृतकुम्भ हैं किन्तु परमपेक्षासंयमरूप निर्विकल्प अवस्था की अपेक्षा

विषकुम्भ हैं। वहाँ तो अप्रतिक्रमण अर्थात् निश्चय प्रतिक्रमण आदि ही अमृतकुम्भ हैं।''[1]

जयसेनाचार्य अमृतचन्द्राचार्य का अनुसरण प्राय: अवश्य करते हैं किन्तु जहाँ भी आत्मख्याति में तत्त्व का सामान्य प्रतिपादन हुआ है, वहाँ उसका विशेष स्पष्टीकरण आचार्य जयसेन ने अवश्य किया है। पात्र की दृष्टि से भी कथन करके टीका प्रत्येक अध्येता को ग्राह्य बना दी है।

तात्पर्यवृत्ति में जीव के भावो की विशिष्टता का सम्यक् प्रकारेण चित्रण किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यवसान भाव रहित मुनि ही को शुभ अशुभ कर्मो के बन्ध से बचाया है। इसे जयसेन स्वामी ने किञ्च विस्तर: लिखकर स्पष्ट किया है-''जिस समय इस जीव को शुद्धात्मा का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता है, तो उस समय वह जीव ''मैं इन जीवों को मारता हूँ'' इत्यादि रूप से हिसा के अध्यवसान को ''मैं नारक हूँ'' इत्यादि कर्मोदय के अध्यवसान को ''यह धर्मास्तिकाय है'' इत्यादिरूप से ज्ञेय पदार्थ के अध्यवसान को जानता है। तब उस समय वह उस हिसा अध्यवसानरूप विकल्प के साथ अपने आपको अभेदरूप जानता हुआ वैसे ही श्रद्धान करता है, जानता है और वैसे ही आचरण करता है इसलिए मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्याचारित्री भी होता है। इसीलिए उसके कर्मबन्ध होता है। वह सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है और सम्यक्चारित्रवान् होता है, उस समय कर्म का बन्ध नहीं होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के कथन ''जब तक यह छद्मस्थ जीव बाह्य वस्तुओं के संबन्ध में संकल्प विकल्प करता है, तब तक उसके हृदय में आत्मा के विषय का ज्ञान नही होता है अत: तभी तक वह जीव शुभ और अशुभ जाति के कर्म भी करता है।''[2]

अनन्तज्ञान सम्पन्न आत्मा को शुभाशुभ प्रवृत्ति वाला नहीं जान सकता है। जो आत्मोपलब्धि वाला है, वही सम्यग्दृष्टि है आचार्य ज्ञानसागर पात्र विवक्षा से सम्यग्दर्शन का कितना स्पष्ट वर्णन करते है ''आचार्य श्री ने यहा आत्मोपलब्धि की बात कही है'' वह आत्मोपलब्धि तीन प्रकार की है-

(1) आगमिक आत्मोपलब्धि (2) मानसिक आत्मोपलब्धि (3) केवलात्मोपलब्धि।

गुरु की वाणी में आत्मा का स्वरूप सुनकर उस पर विश्वास ले आना यह आगमिक आत्मोपलब्धि है। आत्मा के शुद्ध-स्वरूप को मन से स्वीकार करना अर्थात् मन को तदनुकूल परिणमा लेना यह मानसिक आत्मोपलब्धि है। (3) केवल ज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूप से आत्मा की प्राप्ति यह केवलात्मोपलब्धि है। उनमें से केवलात्मोपलब्धि की बात तो अपूर्व है, वह तो परिणाम स्वरूप एवं ध्येय रूप है ही, परन्तु यहाँ शेष आत्मोपलब्धियों में से मानसिक आत्मोपलब्धि की बात है, जहाँ पर श्रद्धा के साथ आचरण भी तदनुकूल होता है अर्थात् "जैसी करनी वैसी भरनी" की बात है। जहाँ पर श्रद्धा के साथ साथ मानसिक आत्मोपलब्धि के समय स्वयं में भी हर्ष-विषादादि विकारभावों का अभाव होता है, इसलिए वहाँ शुभ या अशुभ किसी प्रकार के नूतन कर्मबन्ध का सद्भाव नहीं होता। अत: व्रती महर्षियों को स्वीकार्य है तथा उसी का इस अध्याय प्रकरण में संग्रहण एवं उसी मानसिक आत्मोपलब्धि वाले को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, निर्बन्ध आदि रूप से कहा गया है। जहाँ आगमिक आत्मोपलब्धि की बात है, वहाँ पर शुद्धात्मा के विषय का श्रद्धानी होता है किन्तु आचरण तदनुकूल न होकर उससे उल्टा होता है अर्थात् उसे यह विश्वास तो है कि आत्मा का स्वरूप हर्ष-विषादादि करना नहीं है किन्तु स्वयं हर्ष-विषादि को लिए हुए रहता है और करता रहता है। इस प्रकार 'कथनी और करनी और' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला होने से उसे इस अध्यात्म शैली के ग्रन्थ में समयग्दृष्टि आदि न कहकर मिथ्यादृष्टि कहा गया है। आगमिक लोग शुद्धात्मा की श्रद्धामात्र से ही सम्यग्दृष्टिपना मानते हैं क्योकि उनकी विचारधारा यह है कि इसके शुद्धात्मा होने रूप आचरण भले ही आज न सही किन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा तो इसके भी जगी है अत: संग्रहकर्त्ता के रूप में यह भी सम्यग्दृष्टि ही है।

आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज ने शंकास्पद स्थलों को अत्यन्त सरल रूप से स्पष्ट किया है तथा अव्रतरूप प्रवृत्ति करने से पाप बन्ध और व्रतरूप सदवस्था में प्रवृत्ति करने से पुण्यबन्ध का 275 एवं 276 गाथाओं के भाव का स्पष्टीकरण-प्रश्नोत्तर के रूप में किया है।

शंका- पहले तो आचार्य श्री बतला आये हैं कि मात्र सम्यग्दर्शन होने पर ही किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता और यहाँ कहा जा रहा है कि महाव्रत अवस्था मे भी पुण्यबन्ध होता है, सो कुछ समझ में नही आया।

समाधान- हे भाई! जहाँ आचार्यश्री ने सम्यग्दृष्टि को निर्बन्ध कहा है, वहाँ केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर कहा है जैसा कि 'चत्तारिविपावे..' इत्यादि गाथा से स्पष्ट है, शेष अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के बन्ध उनके रागनुसार होता ही है क्योंकि राग ही बन्ध का कारण है।

शंका- आपने कहा सो ठीक परन्तु महाव्रतों से भी पुण्य बन्ध होता है यह कैसे? क्योंकि फिर जो बन्ध नहीं करना चाहता, वह व्रत छोड़ दे?

समाधान- हे भाई! महाव्रतों के दो रूप होते है-

(1) सत्प्रवृत्तिरूप (2) निवृत्तिरूप'' जैसे कि हिसा करना या किसी को भी कष्ट देना यह पाप है, अशुभ बन्ध का कारण है, किन्तु हिंसा नहीं करना अर्थात् सभी के सुखी होने की भावना करना यह सत्प्रवृत्तिरूप महाव्रत है। यह पुण्यबन्ध करने वाला है और इसी का सम्पन्न रूप किसी से भी डरने डराने रूप भयसंज्ञा से रहित स्वयं निर्णय होना यह पुण्य और पाप इन दोना से भी दूर रहने वाला है। इसी प्रकार झूठ बोलना पाप, सत्य बोलना पुण्य किन्तु सर्वथा नहीं बोलना अर्थात् मौन रहना सो पुण्य और पाप इन दोनो से भी रहित। किसी की भी बिना दी हुई वस्तु भोजन आदि में लेना सो चोरी-पाप और उसका त्याग किन्तु श्रावक के द्वारा भक्ति पूर्वक उचित रूप से दिया शुद्ध आहार ग्रहण करना सो पुण्य और आहार संज्ञा से रहित होना सो पुण्य व पाप इन दोनो से भी रहित। व्यभिचार तो पाप तथा स्त्रीत्यागरूप ब्रह्मचर्य सो पुण्य किन्तु मैथुन संज्ञा से रहित होना यह पुण्य और पाप से रहित। इसी प्रकार परिग्रह पाप, परिग्रह त्याग पुण्य किन्तु परिग्रह संज्ञा का नहीं होना सो शुद्ध रूप इस प्रकार महाव्रतों का पूर्व प्रारम्भात्मरूप शुभ किन्तु उन्ही का ही अपर-रूप जो कि पूर्णतया उदासीनता मय एवं चारों प्रकार की सज्ञाओं से भी रहित होता है, वह शुद्ध अत: अबन्ध कर होता है।

उक्त अशुभ-शुभ का विशेषार्थ के माध्यम से आचार्य ज्ञानसागर महाराज

ने स्पष्टीकरण किया। समझाने का इतना सरल ढंग बिरलजनों में ही पाया जाता है। उसी प्रकार के विशेषार्थो के द्वारा आचार्य श्री ने अध्यात्म के गूढ़ से गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित किया है, जिससे समयसार तात्पर्यवृत्ति प्रत्येक अध्यात्म जिज्ञासु के लिये अति उपयोगी हो गयी है।

सम्प्रति कुछ कदाग्रही जन गृहस्थावस्था में वीतरागसम्यग्दृष्टि बने हुए हैं, बन रहे हैं उन लोगों की भ्रान्त धारणाओं के उन्मूलन के लिए आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज द्वारा लिखित विशेषार्थ पूर्ण समर्थ हैं क्योकि आचार्य श्री ने तात्पर्यवृत्ति को पूर्ण आत्मसात् करके ही विशेषार्थो के माध्यम से विषयों का स्पष्टीकरण किया है।

आस्रवाधिकार (184-185) में आचार्य श्री जयसेन ने वीतरागसम्यग्दृष्टि के अधिकारी का विशेष स्पष्टीकरण किया है। तात्पर्यवृत्ति निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को आश्रय लेकर लिखी गयी है अत: सम्पूर्ण विषयो का उद्घाटन इससे सहज ही हो जाता है।

आचार्य जयसेन स्वामी का संस्कृत मुहावरों पर असाधारण अधिकार है। उनकी जैन पारिभाषिक शब्दों की उपयोग व्यवस्था स्वाभाविक एवं सरल है। उनका अर्थगर्भित व्याख्याओं तथा संक्षिप्त प्रतिपादन का अपूर्व ज्ञान तात्पर्यवृत्ति में जगह जगह पर परिलक्षित होता है। क्वचित् कदाचित् स्थानों पर तात्पर्यवृत्ति में गद्य की कृत्रिमता भी देखने को मिलती है फिर भी अभिव्यक्ति की धारा अति प्रबल है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि तो कवि हृदय हैं। इनके पद्य भाग की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति का गद्य अत्यन्त सरल सर्वजन बोध्य है। वस्तुतः जयसेन स्वामी ने गद्य में विशिष्टता प्राप्त की है। इन्होंने दार्शनिक विषय वस्तु के उपस्थान के साथ साथ शाब्दिक स्पष्टीकरण पर विशेष ध्यान दिया है। ताप्पर्यवृत्ति ही वस्तुतः कुन्दकुन्द स्वामी के अभिप्रायों को स्फुट करने में सक्षम है क्योंकि जयसेन स्वामी की भाषा सरल और सहानुभूतिपूर्ण है और उनका प्रयास रहा है कि विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जिससे सामान्य बुद्धिशील भी विषय का परिज्ञान प्राप्त कर सके। सरलतम संस्कृत में लिखते हुए भी प्रयोजनभूत अर्थ को उद्घाटित करना उनकी प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। उन्होंने

व्याकरण सम्बन्धी कठोरता की उपेक्षा की है। तात्पर्यवृत्ति में उद्धरणों की भी बहुतलता है। उद्धरणों से प्रामाणिकता पुष्ट होती है। प्रसंग प्राप्त उद्धरण प्रस्तुति आचार्य जयसेन की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की परिचायिका है।

जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि स्वतंत्र भेदों को सुरक्षित रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो की सुरक्षा तात्पर्यवृत्ति के माध्यम से ही हुई है। आचार्य कुन्दकुन्द का परिचय कराने वाले आचार्य जयसेन ही हैं। इनकी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के प्रति अगाध भक्ति अनुकरणीय है। आचार्य जयसेन के पूर्व एक सहस्त्र वर्ष आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से अपरिचित रहने वाले अध्यात्म जगत् के ऊपर जयसेनाचार्य का महान् उपकार है कि उन्होंने अध्यात्म विद्या के अधिष्ठाता आचार्य श्री कुन्दकुन्द का परिचय कराया। अध्यात्म विद्या रसिक समाज को समयसार की तात्पर्यवृत्ति विषय वस्तु को समझने में अत्यधिक सहायक है इसलिए प्रत्येक अध्यात्मविद्या एवं दर्शनशास्त्र के अध्येता को इसका अध्ययन अति आवश्यक है।

आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज ने हिन्दी रूपान्तर और विशेषार्थ मण्डित कर श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य की सर्वोच्च कृति समयसार पर आचार्य श्री जयसेन लिखित तात्पर्यवृत्ति को जन-जन के लिए ग्राह्य बना दिया है। समयसार तात्पर्यवृत्ति के बिना समयसार को पाना अशक्य ही है। अत: प्रत्येक आत्मतत्त्व जिज्ञासु को आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज विशेषार्थ सहित समयसार तात्पर्यवृत्ति को अपने स्वाध्याय का विषय बनाना चाहिए।

संदर्भ

1. 'समयो खलु णिम्मलो अप्पा' रयणसार गा. 153, 2. जयधवल पु. 1 पृ. 357,
3. समयसार पृष्ठ 3

उपाचार्य (रीडर) संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत

जैन साधु : कौन नग्न - कौन भग्न

-डॉ. राजेन्द्र कुमार बसल

जैन संस्कृति के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने ससार के जीवो को आत्म-विकारों का परिहार कर ज्ञान-आनन्द स्वरूप शुद्धात्म की प्राप्ति का मार्ग बताया। जिनवरों का यह मार्ग वीतरागता की प्राप्ति का मार्ग कहलाता है। जिनवर अंतर से वीतरागी हो कर निज स्वभाव में लीन रहते है जबकि उनका बाह्य भेष नवजात शिशु के समान निर्विकार-नग्न होता है। इस बाह्य भेष को ही जिनमुद्रा, जिनलिंग या जिनचिन्ह कहते हैं।

जिनचिन्ह का स्वरूप-

इस मार्ग के पथिकों के स्तर की पहिचान के दो संकेत है; पहला आन्तरिक (भावलिंग), दूसरा बाह्य (द्रव्यलिंग)। आचार्यकुन्दकुन्द ने इन चिह्नो के अलावा अन्य चिह्नों को जिनेतर (कुलिग) कहा है। सुविधा की दृष्टि से इस लेख मे भावलिग को 'भावचिह्न', द्रव्यलिग को 'द्रव्यचिह्न' एवं कुलिंग को 'जिनेतर चिह्न' के रूप में वर्णित किया गया है।

भावचिह्न अंतरंग परिणामों अथवा वीतराग भावों का सूचक है, जो अकषाय भाव या कषायहीनता के अशों के होने का द्योतक है। यह परम परिणामिक भाव के आश्रय से आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की प्रसिद्धि से ही संभव होता है। द्रव्यचिह्न शरीर का बाह्य भेष है जो अतरंग भावो का प्रतिनिधित्व करता है; किन्तु सर्वथा ऐसा होने का नियम भी नही है, क्योंकि भावचिह्न के अभाव में भी द्रव्यचिह्न देखने मे आता है। जिनचिह्न धारण कर शरीरादिक विकृत क्रियाएँ एवं परिग्रहादि की अभिलाषा रखने को जिनमार्ग मे 'जिनेतर चिह्न' कहा गया है।

जब अंतरंग वीतराग परिणामों के अनुरूप बाह्य भेष होता है तब ऐसा बाह्य भेष मोक्षमार्ग मे प्रयोजन-भूत एव उपकारक होता है। इस दृष्टि से वीतरागता

के अंशों की विद्यमानता के कारण अंतरंग भाव-सहित बाह्य नग्न भेष ही जिनवरों के मार्ग मे मान्य एवं पूज्य है।

जिनमार्गी साधकों का वर्गीकरण–

जिनमार्गी वीतरागता के साधकों के मोटे तौर पर दो वर्ग हो सकते है-प्रथम गृहत्यागी साधु तथा दूसरा गृहस्थ (श्रावक)। प्रथम वर्ग में नग्न साधु, आर्यिका एव उत्कृष्ट श्रावक आते हैं और दूसरे वर्ग में व्रती-अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक। इस वर्गीकरण का आधार अतरंग विशुद्ध परिणाम है। यदि बाह्य भेष के अनुसार साधु एव श्रावक में अंतरंग भाव, परिणाम नहीं है तो वह भेष जिनमार्ग में स्वाँग माना जाएगा।

साधु का सामान्य स्वरूप–

जिनमार्गी साधु 28 मूलगुणयुक्त एवं अंतर्-बाह्य चौबीस परिग्रहो से रहित होता है। इनमे मिथ्यात्व, चार कषाय, नौ नोकषाय ये चौदह अंतरंग परिग्रह तथा क्षेत्र (भूमि), मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र और बर्तन दस बाह्य परिग्रह होते है। इच्छा एवं मूर्च्छा परिग्रह होने से अंतरंग परिग्रह का त्याग एवं परिणामों की तदनुसारी निर्मलता ही महत्त्वपूर्ण है। साधु मन, वचन, काय एव कृत, कारित, अनुमोदना से उपरोक्त चौबीस परिग्रहों का त्यागी होता है। यदि साधु तिल-तुष मात्र भी परिग्रह युक्त हो तो उसका साधुत्व भग्न हो जाता है। ऐसे साधु का कथित जिनचिह्न कुचिह्न हो जाता है और वह निगोद का पात्र हो पड़ता है (सूत्रपाहुड 18)।

भाव एवं द्रव्यचिह्नी साधु–

बाह्य भेष के अनुसार साधुओ को भावचिह्नी, द्रव्यचिह्नी और जिनेतरचिह्नी (कुलिंग) इन तीन वर्गो में संयोजित किया जा सकता है। सर्वपरिग्रहरहित तथा अंतरंग में सम्यक्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र-रूप आत्मलीनता से वीतरागता के अंशों को धारण करने वाले साधु भावचिह्नी कहलाते है। वे सुख-दुख कांच-कांचन, शत्रु-मित्र, हित-अहित सभी में समता-भाव धारण कर आत्माराधन करते है। आत्मज्ञान से शून्य और मंदकषाय-रूप शुभभावों को ही धर्म मानने वाले साधु द्रव्य-चिह्नी कहलाते हैं।

भावचिह्नी एवं द्रव्यचिह्नी साधु का बाह्य भेष यद्यपि एक जैसा ही होता है; तथापि आत्मज्ञान के सद्भाव के कारण भावचिह्नी साधु कषायो का परिहार करता हुआ आत्मा में वीतरागता के अंशों की वृद्धि करता है और अन्तत: कर्मो से मुक्त हो जाता है। इसी कारण से 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने भावचिह्न सहित बाह्यचिह्न रूप दिगम्बर मुद्रा को मोक्षमार्ग माना है (समयसार 410-411)।

द्रव्यचिह्नी साधु मंद कषाय को धर्म मानने के कारण पुण्य का बन्ध करता है। वह मनुष्य एवं देवादिक सद्गति को तो प्राप्त करता है; किन्तु कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्यचिह्नी साधु को बोधि या समाधि की प्राप्ति नहीं होती (भावपाहुड गाथा 72)। भावचिह्न--रहित बाह्य साधु के भेष से मोक्षमार्ग का विनाश होता है (मोक्षपाहुड 61)। यह पाप से युक्त एवं अपयश का कारण है (भावपाहुड 61)। धर्म से रहित साधु को आचार्य कुन्दकुन्द ने ईख के फल के समान मानते हुए उसे नग्न-रूप में रहने वाला नट श्रमण निरूपित किया है (भावपाहुड 71)। उन्होंने ऐसे दर्शन रहित द्रव्यचिह्नी साधु को 'चल शव' जैसे शब्द से सम्बोधित किया है (भावपाहुड 143)। ऐसे साधु का ज्ञान एवं चरित्र क्रमश: बालश्रुत एव बालचरित्र जैसा निरर्थक होता है। (मोक्षपाहुड 100)। उन्होंने प्रश्न किया हैं कि ज्ञान रहित चारित्र, दर्शन रहित तप एवं भाव विहीन आवश्यक क्रियाए आदि से युक्त लिंग (भेष) से सुख की प्राप्ति कैसे संभव है? (मोक्ष पाहुड 57)।

भावचिह्न की प्रधानता

जिनमार्ग में भावचिह्न की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने 'भावपाहुड' में कहा कि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अंतरंग नग्न हो कर शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरण करे पश्चात् द्रव्य से बाह्य मुनिमुद्रा (लिंग) प्रकट करे, यही जिनाज्ञा एवं मोक्षमार्ग है (भावपाहुड 73)। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने कहा कि जैसे भी बने सब तरह के प्रयत्न कर आत्मा को जानो, उसका श्रद्धान करो, उसे प्रतीत करो और उसका आचरण करो; मोक्ष की प्राप्ति तभी होगी (भावपाहुड 89; सूत्रपाहुड 16)।

मोक्षमार्ग और जिनसूत्र–

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'सूत्रपाहुड' में कहा है कि जिनमार्ग में वीतरागता की प्राप्ति हेतु जिनसूत्रो अर्थात् आगम, अध्यात्म में प्रतिपादित जीवादि पदार्थो हेय-उपादेय आदि को जानने वाला साधु ही सम्यगदृष्टि है (सूत्रपाहुड 5)। जिस प्रकार सूत्र सहित सुई गुमती नहीं है, उसी प्रकार जिनसूत्रों का ज्ञाता साधक भी पथभ्रष्ट नही होता (सूत्रपाहुड 3-4)। उनके अनुसार जिनसूत्र से भ्रष्ट रुद्र जैसा ऋद्धिवान तपस्वी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सका (सूत्रपाहुड 8)। जिनसूत्रों को जानकार व्यक्ति कभी भी अपने अहंकार की तुष्टि हेतु आत्मस्वरूप, सप्त तत्त्व, त्रिरत्न रूप मोक्षमार्ग साध्य-साधन आदि की मनगढ़न्त या मनमानी व्याख्या नहीं करता। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जिनसूत्रों की मनमानी व्याख्या करने वाला साधु-श्रावक मिथ्यादृष्टि होता है (सूत्रपाहुड 7)।

जिन-चिह्नधारी साधु और जिनेतर-चिह्नी साधु–

वीतराग गुण के कारण लोक में जिनचिह्न की श्रेष्ठता, विशिष्टता एवं महिमा बनी रहे और वह पाप का कारण न बने इसके प्रति आचार्य कुन्दकुन्द जागरूक थे। जिनचिह्नधारी साधु उन्मार्गी हो कर लोक–उपहास का कारण बने, यह उन्हे इष्ट नहीं था; अतः एक ओर जहाँ उन्होंने 'बोध पाहुड' में वीतराग गुणयुक्त जिनचिह्नी साधुओं को जिन आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिन-बिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, जिनदेव, जिनतीर्थ, अरहंत एवं प्रव्रज्या जैसी उपाधियों से महिमा-मण्डित किया है (बोध पाहुड 3-4), वहीं दूसरी ओर जिन-भेष का दुरुपयोग रोकने हेतु 'लिंगपाहुड' में जिन-चिह्नधारी भ्रष्ट साधुओं की निन्दा करते हुए उन्हें पशुतुल्य, पापरूप एवं निगोदगामी बताया है।

द्रव्यचिह्नी साधु–

द्रव्यचिन्ही साधु आत्माज्ञान-विहीन होते हैं। किन्तु वे साधुओं के बाह्य नियमो को निरतिचार पालन करते हैं। उनके पास तृण–मात्र भी परिग्रह नहीं होता। वे मन एवं इन्द्रिय संयम से युक्त होते हैं। वैसे द्रव्यचिह्नी साधु एवं भावचिह्नी साधु में भेद करना दुष्कर होता है। यह केवलज्ञान-गम्य है। इन साधुओं के अतिरिक्त जिनचिह्न धारण कर कुक्रिया में मग्न रहने वाले जिनेतर-चिह्नी साधुओं का वर्णन भी आचार्यदेव ने (लिंगपाहुड) में किया है। ऐसे साधु

स्वच्छन्द होकर स्त्री-संसर्ग, विषय-कषार्यो की पुष्टि, शरीर-संस्कार, गृहस्थोचित कार्य एवं परिग्रह के प्रति ममत्व रखते हुए लौकिक कार्यो में रुचिवान् होते हैं।

नरकगामी जिनेतर-चिह्नी साधु–

(1) जो साधु बहुत मान कषाय करता हुआ निरन्तर कलह वाद-विवाद, द्यूत-क्रीड़ा, अब्रह्म (भोग-विलास) सेवन करता है, वह पापी नरकगामी होता है (लिंगपाहुड 6-7)।

(2) जो साधु गृहस्थों के विवाहादि कार्य करता है, कृषि-व्यापार एवं जीवघात आदि पाप कार्य करता है, चोरी, झूठ, युद्ध, विवाद करता है, यंत्र, चौपड़, शतरंज, पासा आदि क्रीड़ाएँ करता है, वह नरकगामी होता है (लिंगपाहुड 9-10)।

(3) जो साधु सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र, तप, संयम, नियम आदि की क्रियाए बाध्यतापूर्वक या खिन्न मन से पीड़ायुक्त भावना से करता है वह नरकगामी होता है (लिंगपाहुड 11)।

तिर्यञ्च-तुल्य साधु–

(1) जो साधु पाप बुद्धि से मोहित हो कर बाह्य कुक्रिया करता है, वह जिनचिह्न का उपहास करता है (लिंगपाहुड 3)।

(2) जो साधु नृत्य करता है, गाता है, बजाता है, परिग्रह का सग्रह करता है या परिग्रह का चिन्तन एवं ममत्व रखता है वह पाप से मोहित बुद्धि वाला तिर्यञ्चयोनि पशु है, श्रमण नहीं है (लिंगपाहुड 4-5)।

(3) जो साधु भोजन में अति आसक्ति रखते है, कामवासना की इच्छा रखते हैं, मायावी हो कर व्यभिचार-रूप प्रवृत्ति करते है, प्रमादी होते हैं, वे तिर्यञ्चयोनि पशु-तुल्य होते हैं; ऐसे साधुओं से गृहस्थ श्रेष्ठ होते हैं (लिंगपाहुड 12)।

(4) जो साधु ईर्या समिति-पूर्वक नहीं चलते, दौड़ कर चलते हैं, पृथ्वी खोदते हैं, वनस्पति आदि की हिंसा करते हैं, अनाज कूटते हैं, वृक्षों को छेटते-काटते हैं, वे तिर्यञ्चयोनि हैं, पशु एवं अज्ञानी हैं, श्रमण नहीं हैं (लिंगपाहुड

17-18)।

(5) जो साधु स्त्रियों से निरन्तर राग-प्रीति बनाये रखते हैं, निर्दोष जनों पर दोष लगाते हैं, गृहस्थों और शिष्यों में बहुत स्नेह रखते हैं, गुरु आदि की विनय एवं साधु-क्रियाओं से रहित होते हैं, वे श्रमण न हो कर तिर्यञ्चयोनिज हैं, पशु एवं अज्ञानी है (लिंगपाहुड 17-18)।

(6) भावरहित साधु पापस्वरूप एवं तिर्यचयोनि में निवास करता है (भावपाहुड 74)।

अनन्त संसारी साधु–

(1) जो साधु दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का सेवन नहीं करता; किन्तु परिग्रह विषय-कषाय में आर्तध्यान करता है, वह अनन्त संसारी है (लिंगपाहुड 8)।

(2) जो साधु आहार के लिए दौड़ता है, आहार के निमित्त कलह कर आहार भोगता है, खाता है और उसके निमित्त अन्य से परस्पर ईर्ष्या करता है, वह जिन श्रमण नहीं है (लिंगपाहुड 13)।

(3) जो बिना दिया आहार, दान आदि लेता है और परोक्ष पर के दोषों से पर की निन्दा करता है, वह श्रमण चोर के समान है (लिंगपाहुड 14)।

(4) जो साधु स्त्रियों के समूह में उसका विश्वास करके और उनमें विश्वास उत्पन्न करके दर्शन, ज्ञान, चारित्र देता है, उन्हे सम्यक्त्व बताता है, पढ़ाता है, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, स्त्रियों में प्रवृत्त होता है और व्यभिचारी स्त्री के घर आहार लेता है उसकी प्रशंसा करता है; ऐसा भाव से विनष्ट साधु पार्श्वस्थ अर्थात् भ्रष्ट से भ्रष्ट है; वह श्रमण तो क्या, मनुष्य भी नहीं है (लिंगपाहुड 20-21)।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जिनचिह्न धारण कर उक्त अनुपयुक्त क्रियाओं को करने वाले साधु भले ही बहुत सारे शास्त्रों के ज्ञाता हों और भावचिह्न साधुओं के साथ रहते हों तो भी वे भाव से नष्ट ही हैं और साधु नहीं हैं (लिंगपाहुड 19)। लिंगपाहुड के अन्त में आचार्य कहते हैं कि जो साधु गणधरादि द्वारा उपदिष्ट वास्तविक धर्म को यत्नपूर्वक धारण करते हैं

वे निश्चित ही सर्वदुःख दूर कर मोक्ष को प्राप्त करते है (लिंगपाहुड 22)।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिनचिह्न धारण करने वाले साधु यदि स्वय को महन्त मान कर आगम के विपरीत मोक्षमार्ग की उलटी-पुलटी व्याख्या करते हैं या व्यक्तिगत विश्वासों के अनुसार उसका असत्य निरूपण करते हैं, षट् रस एवं भोजन में आसक्ति रखते हैं, नारियों के प्रति अनुराग रखते है; छल, कपट, प्रलोभन दे कर धार्मिक क्रियाओं की आड़ में नारियों का स्पर्श, संसर्ग एवं सेवन करते हैं, रात्रि में सम्मोहन आदि की अविहित क्रियाएँ करते हैं, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र एवं अन्य लौकिक कार्यो में रुचि लेते हैं; रुपया, मकान, भोग-उपभोग की सामग्री, वाहन आदि परिग्रह की कामना करते है; हिंसा, मारपीट, चोरी, झूठ, अब्रह्म आदि पाप कार्य करते-कराते हैं, धर्म के नाम.पर हिंसा, कषाय पोषक एवं निन्द्य ग्रन्थों का अभ्यास एवं रचना करते हैं, जिनदेव, जिनगुरु एवं जिनशास्त्रों की अवज्ञा-अविनय करते है, रागी देवी-देवताओ को पूजते हैं और शरीर क्रिया, भोजन एवं इन्द्रिय-पोषण आदि मे मग्न रहते हैं, वे वास्तव में जिनमार्गी श्रमण न हो कर जिनेतर-चिन्ही, उन्मार्गी, पापी एव नरकगामी होते हैं, भले ही फिर बाह्य में वे कितनी ही कठोर शारीरिक तपस्या क्यों न करते हो? आत्मज्ञान के बिना कितना ही कठोर तप किया जाए उससे कर्मो की निर्जरा नहीं होती।

बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि॥

-आचार्य कुन्दकुन्द

साधुओं के बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह नहीं होता। वे एक ही स्थान में दूसरों के द्वारा दिये गये प्रासुक अन्न को अपने हाथ-रूपी पात्र मे ग्रहण करते हैं।

-B-369 O P.M Colony
P.O. Amlai Paper Mills
Dist-Shahdol (M P.)

आचार्य रविषेण और उनका पद्मपुराण : एक अनुचिन्तन

-डॉ. फूलचन्द जैन "प्रेमी"

जैनाचार्यों की गौरवशाली परम्परा में आचार्य रविषेण एक ऐसे अनुपम देदीप्यमान नक्षत्र की तरह हैं, जिन्हें ईसा की सातवीं शताब्दी में संस्कृत भाषा के जैन रामकथा विषयक साहित्य मे "पद्मपुराण" अथवा "पद्मचरितं"[1] नामक एक ऐसी विशाल काव्य कृति लिखने का श्रेय प्राप्त हुआ, जिसे सस्कृत जैन साहित्य की प्रथम (आद्य) रामकथा के रूप में उसी प्रकार विख्यात होने का गौरव प्राप्त हुआ, जिस तरह ईसा की प्रथम शती के प्रारम्भ में आचार्य विमलसूरि कृत 118 अधिकारों और 7651 गाथाओ में प्राकृत भाषा में निबद्ध "पउमचरियं" को प्राकृतभाषा के रामकथा विषयक साहित्य में प्रथम कृति होने का गौरव प्राप्त है। इसीलिए आचार्य रविषेण मात्र जैन साहित्य के ही नही अपितु वे सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्‌मय के एक विशिष्ट गौरवशाली विद्वान् महाकवि थे, जिनका संस्कृत साहित्य, विशेषकर रामकथा-विषयक वाङ्‌मय के विकास मे अद्वितीय योगदान है।

आचार्य रविषेण : व्यक्तित्व

रामकथा भारतवर्ष की सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है। इसीलिए इसका विपुल साहित्य भी वैदिक, जैन, बौद्ध इन तीनों सम्प्रदायों में अपने-अपने ढंग से लिखा गया है। श्रद्धेय नाथूराम जो प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ में 'रामकथा की विभिन्न धाराएं' नामक निबंध में विभिन्न प्रकार की रामकथाओं को स्पष्ट किया है।

संस्कृत भाषा में निबद्ध पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण का पौराणिक चरितकाव्य के रचयिता के रूप में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख पद्मचरित के 123 वें पर्व के 167 वें पद्य के

उत्तरार्ध में इस तरह किया है-

आसीदिन्द्रिगुरोर्दिवाकयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि-
स्तस्माल्लक्ष्मणसेन सन्मुनिरदःशिष्यो रविस्तु स्मृतम्॥

अर्थात् इन्द्रगुरु के शिष्य दिवाकर यति, दिवाकर यति के अर्हन्मुनि, अर्हन्मुनि के शिष्य लक्ष्मणसेन मुनि थे और उनका शिष्य मैं रविषेण हूँ। पर इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने किसी सघ या गण-गच्छ का कोई उल्लेख नही किया और न ही स्थानादि की चर्चा की है। परन्तु अनुमान होता है, संभवतः वे सेनसंघ से ही सम्बद्ध हों। उनके गृहस्थ जीवन के बारे में भी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। फिर भी क्या यह क्रम बात है कि उन्होंने अपने प्रस्तुत "पद्मचरित" की रचना का समय (संवत्) स्वयं देकर समय निर्धारण की कठिनाई का हल कर बड़ा उपकार किया है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त अर्थात् एक सौ तेईसवें पर्व के 181 वे पद्य में कहा है-

द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समततीतेऽर्द्ध चतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धेश्चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्॥

अर्थात् जिनसूर्य-भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त करने के 1203 वर्ष छः माह बीत जाने पर पद्ममुनि का यह चरित निबद्ध किया। इस प्रकार इसकी रचना वि. सं. 734 (ई. सन् 677) में पूर्ण हुई है। वीरनिर्वाण सं. कार्तिक कृष्णा 30 वि. सं. 469 पूर्व से ही भगवान् महावीर के मोक्ष जाने की परम्परा प्रचलित है। इस तरह छः मास का समय और जोड़ देने पर वैशाख शुक्ल पक्ष वि. सं. 734 इसकी रचना तिथि आती है।

रविषेणाचार्य को उनके उत्तरवर्ती उद्योतनसूरि (वि. सं. 835) ने अपनी कुवलयमाला (अनुच्छेद पृ. 4) में पद्मचरति के कर्ता के रूप में स्मरण किया है। वि. सं. 840 में रचित हरिवंशपुराण के रचयिता पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेन (आठवीं शती) ने भी रविषेण को स्मरण किया है, अतः इस तरह स्पष्ट होता है कि रविषेण वि. सं. 840 से पूर्ववर्ती है।[1]

अपभ्रंश "पउमचरिउ" के कर्ता महाकवि स्वयंभूदेव ने अपने ग्रन्थ में

आचार्य रविषेण को काफी आदर के साथ स्मरण करते हुए ग्रन्थारम्भ के सन्धि 1 कड़वक 2/3-5 मे कहा है–

एह रामकह-सरि सोहंती, गणहर-देवेहिं दिट्ठ बहंती।
पच्छइ इंदभूइ-आयरिएं, पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं।
पुणु एवहिं संसाराराएं कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं।
पुणु रविषेणायरियं-पसाएं बुद्धिए अवगाहिय कइराएं।

प्रस्तुत गाथा छन्दो में स्वयभूदेव ने कहा है कि यह रामकथा तीर्थकर वर्द्धमान के मुख कुहर से विनिर्गत होकर इन्द्रभूति गणधर और सुधर्मास्वामी आदि के द्वारा चली आई है और रविषेणाचार्य के प्रसाद से मुझे प्राप्त हुई है।

इन सब उल्लेखो और प्रस्तुत पद्मपुराण के अध्ययन से आचार्य रविषेण का पाण्डित्य, उनका श्रेष्ठ एवं सफल महाकवि रूप का दिग्दर्शन तो होता है, किन्तु उन्होने अपने जीवन के विषय मे कही कुछ विशेष उल्लेख नहीं किया, जिसमे उनके व्यक्तित्व की विशेष झलक मिल सके। पद्मपुराण के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि वे विविध भाषाओ के तो ज्ञाता थे ही, इनकी अन्य रचनाये भी थीं, जो अब तक कही उपलब्ध नही हुई हैं।

रामकथा के दो रूप

जैनसाहित्य में रामकथा के दो रूप मिलते है-एक तो पउमचरियं और पद्मचरित का तथा दूसरा गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण का। पद्मचरित या पद्मपुराण की कथा प्रायः सभी जानते है। 'जैनरामायण' के रूप मे इसे प्रसिद्धि प्राप्त है। रविषेणाचार्य के इस 'पद्मपुराण' का प्राचीन तथा आज की हिन्दी भाषा मे अनुवाद होने की वजह से जन-जन मे इसका अत्यधिक प्रचार-प्रसार है।

रामकथा विषयक जैन साहित्य

प्राचीन काल से ही रामकथा मात्र भारत में ही नहीं अपितु विश्व के अनेक देशो मे लोकप्रिय रही है। किसी भी श्रेष्ठ कवि ने रामकथा को अपने काव्य का वर्ण्य विषय बनाने मे गौरव समझा। यही कारण है कि विविध भाषाओं में रामकथा विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। भारत की प्रायः सभी प्राचीन धर्म-परम्पराओ में थोड़े-बहुत अन्तर से रामकथा मिलती है। प्राकृत,

संस्कृत और अपभ्रंश इन प्राचीन तथा कुछ दक्षिण भारतीय भाषाओ में तो रामकथा विषयक काफी समृद्ध और श्रेष्ठ साहित्य उपलब्ध है।

रामकथा विषयक प्रमुख जैन साहित्य में पद्मपुराण नाम के ही कई ग्रन्थ उपलब्ध है, सभी राम-रावण की कथा के प्रतिपादक है। जैसे-1. 'आचार्य विमलसूरि' कृत (ई. सन् 4) पउमचरियं, जो 7 अधिकारों में विभक्त 118 सर्ग प्रमाण प्राकृत महाकाव्य। 2. आचार्य कीर्तिधर (ई. 600) कृत रामकथा के आधार पर आ. रविषैण द्वारा (ई. 677) में रचित संस्कृत पद्यबद्ध 'पद्मचरित' या 'पद्मपुराण' जो छ: खण्डों तथा 123 पर्वो मे विभक्त 20,000 श्लोकप्रमाण है। 3. स्वयम्भू (ई. सन् 738-840) कृत 'पउमचरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य जो 90 सन्धियो मे विभक्त 12000 श्लोक प्रमाण है। 4. कवि रइधू (ई. 1400-1479) कृत 'पउमचरिउ' नामक अपभ्रश काव्य तथा चन्द्रकीर्ति भट्टारक (ई. 1597) कृत पद्मपुराण।

इनके अतिरिक्त पद्मपुराण नाम की अन्य कृतियो के नाम डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास; भाग 6 पृ. 42-43 मे) इस तरह उल्लिखित किये है–1. पद्मपुराण-जिनदास कृत (16वीं शती)। ये भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य थे इसमें उन्होने रविषैण के पद्मपुराण का अनुसरण किया है। इसका अपरनाम रामदेवपुराण भी है। 2. पद्मपुराण (रामपुराण)-सोमसेन (स. 1656), 3. पद्मपुराण-धर्मकीर्ति (सं. 1669), 4. पद्मपुराण-चन्द्रकीर्तिभट्टारक, 5. पद्मपुराण-चन्द्रसागर, 6. पद्मपुराण-श्रीचन्द्र, 7. पद्ममहाकाव्य-शुभवर्धन गणि, 8. रामचरित्र-पद्मनाभ, 9.पद्मपुराण पंजिका, प्रभाचन्द या श्रीचन्द्र।

रामकथा से सम्बद्ध अन्य रचनाएँ (सस्कृत)- 1. सीता चरित्र, 2. सीता चरित्र-शान्तिसूरि कृत 3, ब्रह्मनेमिदत्तकृत सीता चरित्र, 4. अमरदास कृत सीता चरित्र।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण नाम से कई रामायण ग्रन्थ भी मिलते हैं।

प्राकृत के विमलसूरि कृत 'पउमचरियं' की कथावस्तु के विन्यास के समान ही रविषेण कृत प्रस्तुत पद्मपुराण मे वस्तु-विन्यास दिखाई पड़ता है। विषय और वर्णन प्राय: ज्यों के त्यों तथा पर्व-प्रतिपर्व और प्राय: लगातार

अनेक पद्य-प्रतिपद्य मिल जाते हैं। इससे तो यह भी लगता है कि आ. रविषेण का यह पद्मचरित ग्रन्थ विमलसूरि कृत पउमचरियं को सम्मुख रखकर रचा गया है। फिर भी दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वत् वर्ग ने अनेकविध व्यतिक्रम, परिवर्तन, परिवर्धन, विभिन्न सैद्धान्तिक मान्यताओ प्रभृति तथ्यो की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इसके अतिरिक्त रविषेण के कई विवेचन इतने पल्लवित और परिवर्धित है कि सस्कृत की यह कृति प्राकृत 'पउमचरिय' से डेढ़ गुने से भी अधिक हो गई है।[1] इसलिए यह अपने आप मे पूर्ण मौलिक ग्रन्थ है।

पौराणिक आख्यान और पद्मपुराण

भारतवर्ष की वैदिक और जैन परम्पराओं में "पुराण" विधा के अन्तर्गत विशाल साहित्य उपलब्ध है। यह धार्मिक साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिनके चरित नायको का आदर्श जीवन हमारे लिए मात्र अनुकरणीय ही नही अपितु पूजनीय भी है। पुराण इतिहास ग्रन्थ नही है, किन्तु भावनात्मक दृष्टि से हमारे लिए श्रद्धा और आस्था के प्रमुख केन्द्रबिन्दु होने से इतिहास ग्रन्थो की अपेक्षा अति महत्त्वपूर्ण होते हैं।

आचार्य रविषेण कृत प्रस्तुत "पद्मपुराण" पद्म अर्थात् राम से संबंधित कथा का एक अति महत्वपूर्ण विशाल पुराणग्रन्थ है। यहाँ यह जानना भी जरूरी है कि जैनाचार्यो ने "पुराण" की परिभाषा किस तरह से प्रस्तुत की है–

"पुरातनं पुराणं स्यात्" (आदिपुराण 1/21)-इस परिभाषा के अनुसार प्राचीन आख्यानों को पुराण कहा जाता है। इसमें जैन परम्परा मे पूज्य एवं मान्य तिरेसठ शलाका पुरुषो में से किसी एक शलाका पुरुष का प्रमुखता से चरित निबद्ध रहता है। अत: सत्पुरुष के चरित की कथावस्तु पुराण मे समाविष्ट होने के कारण इन्हें "पुराण" सज्ञा दे दी जाती है। साथ ही इसी चरितात्मक वस्तुतत्व के निबद्ध होने से ऐसी रचनाओं को "चरित" भी कहा जाता है। पौराणिक कथाये प्राचीन परम्परा से प्राप्त और प्रचलित श्रद्धा और विश्वास पर आधारित होने के कारण ये सभी सत्य कथानक समझे जाते है। जिनका उद्देश्य इनमें वर्णित आदर्शो का अनुकरण कर समाज में नैतिक और आस्तिक मूल्यो

की स्थापना होता है। इनसे सम्बद्ध सभी ग्रन्थों को जैन-परम्परा मान्य चार अनुयोगो मे प्रथम "प्रथमानुयोग" के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है इसलिए आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण (2/38) में पुराण की परिभाषा करते हुए कहा है– **"स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः। क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम्।** अर्थात् जिसमें क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष एवं सत्पुरुषो की चेष्टायें वर्णित हो, वह पुराण है। आ. जिनसेन ने पुराण के वर्ण्य विषय के अतर्गत इन पाँच विषयों को और आगे बढ़ाते हुए पौराणिक कथा के सात अग बतलाये है–द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत (वर्णनीय कथावस्तु)। ये परिभाषायें यद्यपि पद्मपुराण के बाद की हैं, किन्तु इस परिभाषा की कसौटी पर भी आ. रविषेणकृत पद्मपुराण एक पौराणिक बृहद् महाकाव्य के रूप मे पूर्णतः खरा उतरता है।

प्रस्तुत पद्मपुराण या पद्मचरित की कथावस्तु का उद्देश्य आठवे बलभद्र पद्म (राम), आठवे नारायण लक्ष्मण, प्रतिनारायण रावण तथा उनके परिवारो और सम्बद्ध वशो का चरित वर्णन करना है। ग्रन्थकार ने रचना के आधार की सूचना देते हुए कहा है कि इसका विषय भी वर्धमान तीर्थंकर से गौतम गणधर को और उनसे आचार्य परम्परा के अन्तर्गत धारिणी के सुधर्माचार्य को प्राप्त हुआ। फिर प्रभव को और बाद में श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। तदनन्तर उनके द्वारा लिखित कथा को आधार बनाकर रविषेण ने यह ग्रन्थ प्रकट किया।[1]

इस ग्रन्थ के 123 पर्वो की कथावस्तु को छह खण्डों मे विभक्त किया जा सकता है[2] 1. विद्याधर काण्ड 2. जन्म और विवाह काण्ड, 3. वनभ्रमण, 4. सीताहरण और उसका अन्वेषण, 5. युद्ध, 6. उत्तर चरित।

पद्म-राम के कई जन्मों की कथा तथा उनके परिकर मे निवास करने वाले सुग्रीव, विभीषण, हनुमान की जीवन-व्यापी कथा भी इस चरितकाव्य से सम्बद्ध है। कतिपय पात्रों के जीवन-आख्यान तो इतने विस्तृत आये है, जिससे उन्हें स्वतंत्र काव्य या पुराण भी कहा जा सकता है। इसमें आधिकारिक कथावस्तु मुनि रामचन्द्रजी की है और अवान्तर या प्रासगिक कथाएँ वानर वश

या विद्याधर वश के आख्यान के रूप मे आयीं है। इन दोनो वंशों का कवि ने बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यही कारण है कि चरित काव्य के समस्त गुण इस ग्रन्थ मे समाविष्ट है। अंगीरूप में शान्त रस का परिपाक इसमें हुआ है। ृगार के वियोग और दोनो ही पक्ष सीता अपहरण एव राम विवाह के अनन्तर घटित हुए है। महाकवि रविषेण को इसमे करुण रस के चित्रण मे अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसी तरह वर्णनो के चित्रण मे भी कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

कथारम्भ में 1. विद्याधर लोक, 2 राक्षस वश, 3. वानरवश, 4. सोमवश, 5. सूर्यवश और 6. इक्ष्वाकुवश का अच्छा वर्णन है।

रविषेण ने कथावस्तु के साथ वानरवश, राक्षसवश आदि की व्याख्याए भी बुद्धिसगत की है। नि:सन्देह कवि की इन्ही मौलिकताओ की दृष्टि से ग्रन्थ अद्वितीय हुआ है। इनके मतानुसार देवताओ मे वानरो की उत्पत्ति नही हुई है। अत: ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, विश्वकर्मा, नल, अग्नि, कुबेर, वरुण, पवन आदि तत्तद नामधारी मानव व्यक्ति विशेष हैं। इन व्यक्ति विशेषो से ही वानरजाति के व्यक्ति पैदा हुआ है। जिन विद्याधर राजाओ ने अपना ध्वज-चिन्ह वानर अपना लिया था, वे विद्याधर राजा वानरवशी कहलाये। वानर पशु नहीं, मनुष्य हैं, जो विद्याधरों या भूमिगोचरियों के रूप मे वर्णित है। इस प्रकार रविषेण ने वाल्मीकि द्वारा कल्पित पशुजाति का मानवीकरण किया है।

इसी प्रकार राक्षसवंश के सबध मे आचार्य रविषेण की मान्यता वाल्मीकि से भिन्न है। इन्होने जिस प्रकार वानरद्वीप निवासियो को वानरवशी माना उसी प्रकार राक्षसद्वीप वासियो को राक्षसवशी कहा है। अमराख्य और भानुराख्य नामक तेजस्वी राजाओ की परम्परा मे मेघवाहन नामक पुत्र ने जन्म लिया। इसके राक्षस नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त प्रभावशाली एव स्वयशाभिलाषी हुआ। इस राक्षस राजा से प्रवर्तित वश राक्षसवश कहलाने लगा। ये राक्षस जनसाधारण की रक्षा करते थे, इसलिए भी राक्षस कहलाने लगे। इस प्रकार कवि ने राक्षस और वानरवंश की विशिष्ट एव यथार्थ व्याख्याएँ की हैं।

इस तरह अनेक वशो के वर्णन के साथ तथा इन सभी प्रसगो के साथ कथास्रोत

क्रमशः आगे बढ़ता है–रावण जन्म (7-8 पर्व), दक्षिण विजय (9-11 पर्व), हनुमान जन्म (15-18 पर्व), राजा दशरथ जन्म (19-21 पर्व), राजा दशरथ की विजय एव कैकयी से परिणय (21-25 पर्व), सीता जन्म (26-30 पर्व), वनभ्रमण में राम का वनवास (41 वाँ पर्व), युद्धों का वर्णन (42 वाँ पर्व), शम्बूक मरण एवं खरदूषण युद्ध, सीताहरण और अन्वेषण (45-55 पर्व), युद्ध (56-78 पर्व), उत्तरचरित के अन्तर्गत राज्यो का वितरण एवं सीता त्याग (71-103 पर्व) और अग्नि परीक्षा (104-109 पर्व)-लक्षमण मृत्यु पर राम का उनके शव को लिए हुए छह मास तक घूमते रहना, अन्त में कृतान्त के जीव द्वारा, जो स्वर्ग मे देव हुआ था, राम को समझाने पर लक्ष्मण के शव की अन्त्येष्टिक्रिया और राम की जिनदीक्षा से लेकर तपश्चरण द्वारा मोक्ष।

इस सम्पूर्ण कथा मे राम की मूलकथा के चारो ओर अन्य घटनाये लता के समान उगती, बढ़ती और फैलती चलतीं हैं। कालक्रम से विशृखलित घटनाओ को रीढ़ की हड्डी के समान दृढ़ और सुसगठित बनाया गया हैं। पात्रो के भाग्य बदलते रहते है, परिस्थितियाँ उन्हें कुछ से कुछ बना देती है। वे जीवनसंघर्ष मे जूझकर घर्षणशील रूप की अवतारणा करते है। रविषेण के द्वारा पद्मचरित के कथानक सूत्रो को कलात्मकढंग से संजोये रखना निस्संदेह प्रशंसनीय है। कथानक को सजाने में संदर्भो का संयोजन, वस्तु-व्यापारों के साथ उचित सतुलितरूप मे नियोजन द्वारा रूपाकृति, अवसर-तत्त्व, योग्यता, सत्कार्यता आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्व सम्पूर्ण रूप से अपने यथास्थान प्रयोग हुए है।

कलापक्ष कथानक का मुख्य आभूषण होता है, जिसमे छद, अलंकारों, रसो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। रविषेण जी के इस पद्मचरित मे 41 प्रकार के छंदों का समावेश किया गया है। अनुष्टुप्र छंद सर्वाधिक 16440 है। 21 छन्द इस प्रकार आये हैं जिनका निर्धारण संभव नहीं। यथा 17/405-406, 42/37, 64, 77, 112/15, 114/54, 55, 123/170-179, 181, 182। रविषेणाचार्य ने संगीतात्मक सगीत विकास के लिए छद योजना की है, अतः विशिष्ट भावों की अभिव्यक्ति विशिष्ट छंदों के द्वारा ही उपयुक्त होती है, लय की व्यवस्था छदो के निर्माण मे सहायक होती है। यही कारण है कि रविषेण ने लय और स्वरो का सुन्दर निर्वाह किया है। प्रत्येक पर्व के अंत में छंद

परिवर्तन कर विविध वृत्तो का प्रयोग किया गया है। 42 वे पर्व की रचना नाना छंदो मे की गई है। 78 वें पर्व की विशेषता यह है कि उसमे वृत्त-गन्धि गद्य का प्रयोग हुआ है, जिसमें भुजंगप्रयात छन्द का आभास मिलता है।[1]

अलंकार योजना की अपेक्षा से भी यह काव्य बेहद सफल है। इसमे अनुप्राम श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोधाभाम, भ्रान्तिमान्, परिकर, दृष्टान्त, काव्यलिग, यथासख्य आदि 32 अलकार प्रयुक्त हुए है।

रविषेणाचार्य के पद्मचरित (पद्मपुराण) मे सभी आवश्यक पुराणतत्त्वो का सतुलित समावेश है। जैसे-संवादतत्व, पारिवारिक जीवन, कथा की रोचकता, जनमानस का प्रतिफलन, पुराणगाथाएँ, परम्पराए, अलकृत वर्णन, समकालीन सामाजिक समस्यायें, प्रेम, शृगार, कोतुहल, मनोरजन, धर्म, श्रद्धा आदि।

पद्मपुराण की भाषा-वचनिका की विशेषतायें :

आ. रविषेण कृत संस्कृत भाषा के विशालतम पद्मपुराण ग्रन्थ को हिन्दी (पुरानी हिन्दी) भाषा की गद्य-विधा मे सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय बसवा (राजस्थान) निवासी 18वीं शती के श्रेष्ठ गद्यकार एव महाकवि प दौलतराम जी कासलीवाल को जाता है। इन्होने इस सस्कृत पद्यमय पद्मपुराण को प्राचीन हिन्दी की गद्यविधा भाषा-वचनिका रूप मे सहज, सरल, प्रवाहमयी शैली मे इस तरह प्रस्तुत किया कि यह अपने आप में एक मौलिक और स्वतत्र कृति सी लगती है। ''भाषा वचनिका'' जयपुर के आसपास की लोकबोली ''ढूँढारी'' मे जो पुरानी हिन्दी के ही एक रूप मे लिखी गयी गद्यविधा का ही नाम है, जो कि पूरे उत्तर भारत में आज भी पढ़ी और समझी जाती है। प. दौलतराम जी कृत पद्मपुराण की इसी भाषा-वचनिका का हिन्दी गद्य साहित्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है।

पद्मपुराण भाषा वचनिका के एक-दो गद्यांशों के उद्धरणो से हम प. दौलतराम जी की सरल-सहज-प्रवाहमयी भाषा और शैली को भी समझ सकते हैं, साथ ही यह भी जान सकते हैं कि आचार्य रविषेण के शब्दों को प. दौलतराम जी ने हृदयग्राही भावों के रूप में किस तरह प्रस्तुत किया है।

यह पद्मपुराण भाषा वचनिका के 97 वें पर्व के उस प्रसग का उद्धरण है, जब

श्रीराम कृतांतवक्र सेनापति के द्वारा रथ पर आरूढ करा सती सीता को दूर वन मे छोड़ देने हेतु तीर्थ यात्रा के बहाने भेज देते है। वह सेनापति दु:खी मन से श्रीराम द्वारा वन मे छोड़ने का प्रयोजन सीता से कहता है, तब सती सीता सेनापति से कहती है-"हे सेनापति! तू मेरे वचन रामसू कहियो कि मेरे त्याग का विषाद आप न करणा, परम धीर्यकू अवलम्बन कर सदा प्रजा की रक्षा करियो, जैसे पिता पुत्र की रक्षा करै। आप महान्यायवत हो अर समस्त कला के पारगामी हो, राजा कू प्रजा ही आनन्द का कारण है। राजा वही जाहि प्रजा शरद की पूनों के चन्द्रमा की न्याई चाहे। अर यह संसार असार है, महा भयंकर दु:ख रूप है। जो सम्यक्दर्शन कर भव्यजीव ससारसू मुक्त होवे हैं, सो तिहारे आराधिवे योग्य हैं। तुम राजतै सम्यग्दर्शन कूं विशेष भला जानियो। यह राज्य तो विनाशीक है, अर सम्यग्दर्शन अविनाशी सुख का दाता है, सो अभव्य जीव [illegible]दा करे, तो उनकी निदा के भय से हे पुरुषोत्तम! सम्यकदर्शन कू कदाचित् न तजना।"

इसी तरह 17 वे पर्व के अन्तर्गत जब सीताजी रथ पर आरूढ हो वनकी ओर जा रही हैं, उस समय के प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत गगा नदी का वर्णन भी कितना महत्त्वपूर्ण है-"या भाति चितवती सीता आगै गगा को देखती भई। कैसी है गंगा? अति सुन्दर है, शब्द जाके, अर जाके मध्य अनेक जलचर जीव, मीन, मकर, ग्रहादिकविचरे है, तिनके विचरिये करि उद्धत लहर उठें हैं, तातै कम्पायमान भए है, कमल जा विषै, कर मूल से उपाड़े है, तीर के उत्तंग वृक्ष जाने, अर उखाड़े है पर्वतनि के पाषाण के समूह जाने, समुद्र की ओर चली जाय है, अति गम्भीर है, उज्जवल फूलो कर शोभै है, झागों के समूह उठै है, अर भ्रमते जे भंवर तिनकर महा भयानक है। अर दोनो ढाहावो पर बैठे पक्षी शबद करै तै, सो परम तेज के धारक रथ के तुरंग, ता नदी को ति[illegible] पार भए, पवन समान है वेग जिनका, जैसे साधु संसार समुद्र के पार होय।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद

बीसवी शताब्दी में राष्ट्रभाषा हिन्दी में रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण का अनुवाद प्रस्तुत करने वाले सागर (म.प्र.) निवासी साहित्य मनीषी डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य का जैन साहित्य के विकास में अद्वितीय योगदान है। इन्होंने सस्कृत भाषा में अनेक मौलिक ग्रन्थों का सृजन तो किया ही, साथ

ही अनेक संस्कृत महाकाव्यों, नाटकों, पुराणों, तात्त्विक और धार्मिक ग्रन्थो का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद, सम्पादन आदि कार्यो द्वारा सस्कृत, प्राकृत के जैन साहित्य के अमृततत्त्व को जनसाधारण तक पहुँचाने में कीर्तिमान स्थापित किया है। जैन पुराणसाहित्य के अनमोल रत्न रूप-आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, शान्तिनाथ पुराण, धन्यकुमार चरित, पार्श्वनाथ चरित आदि जैसे विशाल संस्कृत पुराण-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का सपादन और अनुवाद करके डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने पुराणों के उद्धार और उनके स्वाध्याय की समृद्ध परम्परा को प्रचारित-प्रसारित करने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

प. दौलतराम जी कृत पुरानी हिन्दी रूप गद्यमय भाषावचनिका के बाद आधुनिक हिन्दी में आ. रविषेणकृत इस पद्मपुराण को आधुनिक हिन्दी भाषा मे प्रस्तुत करने का एक गुरुतर ऐतिहासिक सफल कार्य डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा सम्पन्न हुआ है।

इसके अध्ययन से ही स्पष्ट है कि साहित्याचार्य जी की भाषा सरल, सुबोध और विषयानुरूप हृदयग्राही होती है। ऐसा लगता है कि साधारण से साधारण पाठकों के सहजबोध का भी पूरा ध्यान अनुवाद करते समय उन्होने रखा है। इसलिए वे एक सफलतम हिन्दी अनुवादक के रूप मे प्रसिद्ध है।

संदर्भ

1. क. ''पद्मचरितम्'' इस नाम से न्यायतीर्थ प दरबारी लाल साहित्यरत्न द्वारा सशोधित होकर माणिकचद दि जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से सन् 1928-29 मे प नाथूराम प्रेमी की भूमिका सहित तीन भागो मे मूल सस्कृत भाषा मे प्रकाशित ग्रन्थ। ख. प दौलतरामकृत पद्मपुराण भाषावचनिका-नामक ग्रन्थ के कलकत्ता तथा श्री भा अनेकान्त विद्वत् परिषद् लोहारिया (राजस्थान) से कुछ सस्करण प्रकाशित। ग. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा ''पद्मपुराण'' नाम से मूल सस्कृत मे डॉ पन्नालाल साहित्याचार्य के हिन्दी अनुवाद सहित तीन भागो मे प्रकाशित।

जैनदर्शन विभागाध्यक्ष,
सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

हरिवंशपुराण पर आधारित रचनायें

-डॉ. रमेशचन्द्र जैन

शक सवत् 705 (वि. स. 840) में आचार्य जिनसेन प्रथम द्वारा लिखा गया हरिवंशपुराण एक उत्तम ग्रन्थ है। इसमें भगवान् नेमिनाथ और नारायण श्रीकृष्ण के जीवनचरित के साथ प्रसगोपात्त अन्य कथानक भी प्राप्त होते है। यह रचना इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके आधार पर परवर्ती काल में अनेक पुराण और काव्यग्रन्थ लिखे गए। हरिवंश पुराण के ज्ञानपीठ संस्करण मे डॉ. ए. एन. उपाध्ये तथा डॉ. हीरालाल जैन ने इस प्रकार की अनेक रचनाओ का उल्लेख अपने प्रधान सम्पादकीय मे किया है। हरिवंशुपराण के नाम से संस्कृत मे धर्मकीर्ति, श्रुतकीर्ति, सकलकीर्ति, जयसागर, जिनदास व मंगरस कृत व पाण्डवपुराण नाम से श्रीभूषण, शुभचन्द्र, वादिचन्द्र, जयानन्द, विजयगणि, देवविजय, देवप्रभ, देवभद्र व शुभवर्द्धन कृत तथा नेमिनाथचरित्र के नाम से सूराचार्य, उदयप्रभ, कीर्तिराज, गुणविजय, हेमचन्द्र, भोजसागर, तिलकाचार्य, विक्रम, नरसिह, हरिषेण, नेमिदत्त आदि कृत रचनाये ज्ञात है। प्राकृत में रत्नप्रभ, गुणवल्लभ और गुणसागर द्वारा तथा अपभ्रंश मे स्वयम्भू, धवल, यश:कीर्ति, श्रुतकीर्ति, हरिभ्रद व रइधू द्वारा रचित पुराण व काव्य ज्ञात हो चुके हैं। इन स्वतन्त्र रचनाओं के अतिरिक्त जिनसेन, गुणभद्र व हेमचन्द्र तथा पुष्पदन्त कृत सस्कृत व अपभ्रंश महापुराणों में भी यह कथानक वर्णित है एवं उसकी स्वतन्त्र प्राचीन प्रतियाँ भी पायी जाती हैं। हरिवंशपुराण, अरिष्टनेमि या नेमिचरित, पाण्डवपुराण व पाण्डवचरित आदि नामों से न जाने कितनी संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनायें अभी भी अज्ञात रूप से भण्डार में पड़ी होना सम्भव है। प्राचीन हिन्दी व कन्नड में भी हरिवश पुराण के आधार पर रचित ग्रन्थ अनेक हैं।

हरिवशपुराण से 'प्रद्युम्नचरित' संज्ञक सभी कृतियाँ प्रभावित हैं। ईसवी सन् 978 के आसपास महाकवि महासेन ने प्रद्युम्नचरित की रचना की। इस काव्य की

कथावस्तु का मूल स्रोत जिनसेन प्रथम का हरिवंशपुराण है। हरिवंशपुराण की प्रद्युम्नचरित सम्बन्धी कथावस्तु और महासेन की कथावस्तु मे बहुत कुछ समानताये हैं। इस पुराण में बताया है कि रुक्मिणी पत्र भेजकर श्री कृष्ण को अपने वरण के लिए बुलती है, जबकि प्रद्युम्नचरित में नारद के अनुरोध पर श्रीकृष्ण रुक्मिणी का अपहरण करने जाते हैं। हरिवंशपुराण मे आया है कि प्रद्युम्न ने कालसवर के शत्रु सिंहरथ नृपति को वश में किया था, जिससे प्रसन्न होकर उसने अपने पाँच सौ पुत्रो के रहते हुए भी युवराज पद दिया। प्रद्युम्नचरित मे सामान्यतः सभी शत्रुओ को वश में करने का निर्देश है। इस काव्य में कालसवर ने प्रद्युम्न की प्राप्ति के समय ही अपनी पत्नी कंचनमाला को उसे युवराज पद देने का वचन दिया था। अतःएव उसने प्रतिज्ञानुसार उसे युवराज पद दिया। हरिवंशपुराण और प्रद्युम्नचरित दोनो ही ग्रन्थो मे कंचनमाला से गौरी और प्रज्ञप्ति नामक विद्याओ के प्राप्त किये जाने का निर्देश आया है। कालसंवर के पुत्रों ने प्रद्युम्न को विभिन्न स्थानों में परिभ्रमण कराया था, जहाँ से उसे विभिन्न प्रकार के अस्त्र, शस्त्र प्राप्त हुए थे। हरिवंशपुराण मे यह सन्दर्भ विस्तृत आया है। कपित्थ और वल्मीक वन के नाम भी इस पुराण में आए हैं, पर प्रद्युम्नचरित में इन वनों का नामोल्लेख नही हुआ है। अतः प्रद्युम्नचरित महाकाव्य के कथानक का बहुभाग हरिवंशपुराण से गृहीत है।

कवि सधारु के हिन्दी प्रद्युम्नचरित की प्रस्तावना मे श्रीमान् प. चैनसुखदास ''न्यातीर्थ'' व डॉ. कस्तूचन्द कासलीवाल ने प्रद्युम्नचरित सम्बन्धी निम्नलिखित 25 कृतियो का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं –

	रचना	कर्त्ता	भाषा	रचनाकाल
1.	प्रद्युम्नचरित	महासेनाचार्य	संस्कृत	11वीं सदी
2.	पज्जुण्णकहा	सिंह अथवा सिद्ध	अपभ्रंश	13वीं शताब्दी
3.	प्रद्युम्नचरित	कविसधारु	हिन्दी	सं. 2411
4.	प्रद्युम्नचरित	भट्टारक सकलकीर्ति	संस्कृत	15वीं शताब्दी
5.	प्रद्युम्नचरित्र	रइधू	अपभ्रंश	15वीं शताब्दी
6.	प्रद्युम्नचरित्र	सोमकीर्ति	संस्कृत	सं. 1530
7.	प्रद्युम्नचौपई	कमलकेशर	हिन्दी	सं. 1626
8.	प्रद्युम्न रासो	ब्रह्मरायमल्ल	हिन्दी	सं. 1628

9. प्रद्युम्नचरित्र	रविसागर	संस्कृत	सं. 1645
10. शाम्ब प्रद्युम्नरास	समयसुन्दर	राजस्थानी	स. 1659
11. प्रद्युम्नचरित्र	शुभचन्द्र	संस्कृत	17वीं शताब्दी
12. प्रद्युम्नचरित्र	रतनचन्द्र	संस्कृत	स. 1671
13. प्रद्युम्नचरित्र	मल्लिलभूषण	सस्कृत	17वी शताब्दी
14. प्रद्युम्नचरित्र	वादिचन्द्र	संस्कृत	17वीं शताब्दी
15. शाम्ब प्रद्युम्नरास	ज्ञानासागर	हिन्दी	17वीं शताब्दी
16. शाम्ब प्रद्युम्न चौपई	जिनचन्द्रसूरि	हिन्दी	17वी शताब्दी
17. प्रद्युम्नचरित्र	भागकीर्ति	सस्कृत	17वीं शताब्दी
18 प्रद्युम्नचरित्र	जिनेश्वसूरि	संस्कृत	17वी शताब्दी
19. प्रद्युम्नचरित्र	यशोधर	सस्कृत	17वी शताब्दी
20. प्रद्युम्नचरित भाषा	यशोधर	हिन्दी गद्य	17वीं शताब्दी
21. प्रद्युम्नचरित प्रबन्ध	देवेन्द्रकीर्ति	हिन्दी	सं. 1722
22. प्रद्युर-प्रद्युम्नरास	मायाराम	हिन्दी	स. 1818
23. शाम्ब प्रद्युम्नरास	हर्षविजय	हिन्दी	स. 1842
24. प्रद्युम्न प्रकाश	शिवचन्द	हिन्दी	स. 1879
25. प्रद्युम्नचरित	बख्तावरसिंह	हिन्दी गद्य	सं. 1914

ई. सन् 1075-1125 मे हुए वागभट्टप्रथम ने नेमिनिर्वाणकाव्यम् की रचना की। कवि ने जिनसेन प्रथम के हरिवंशपुराण से कथावस्तु को ग्रहण किया है। इस काव्य मे अरिष्टनेमि की जन्मतिथि श्रावण शुक्ला षष्ठी बतायी गई है। इसका हरिवंशपुराण से मेल नहीं बैठता है।[3] उत्तरपुराण में उक्त तिथि प्राप्त होती है[4] पर जीवनवृत्त हरिवंशपुराण के समान है। कवि ने उत्तरपुराण और हरिवंशपुराण के साथ 'तिलोयपण्णत्ती' का भी अध्ययन किया है। कवि ने नेमिनाथ के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकों का निरूपण सीधे और सरल रूप मे किया है। प्रासंगिक कथाओं का नियोजन पूर्वभवावलि के रूप मे त्रयोदश सर्ग में किया गया है। नेमिनाथ के जीवन की दो मर्मस्पर्शी घटनाये इस काव्य में हैं। एक घटना राजुल और नेमि का रैवतक पर पारस्परिक दर्शन और दर्शन के फलस्वरूप दोनो के हृदय में प्रेमाकर्षण की उत्पत्ति के रूप

मे हैं। दूसरी घटना पशुओं का करुण क्रन्दन सुन विलखती राजुल तथा आर्दनेत्र हाथ जोड़े उग्रसेन को छोड़ मानवता की प्रतिष्ठा के लिए वन में तपश्चरण के लिए जाना है। इन दोनों घटनाओं ने कथा वस्तु को पर्याप्त सरस और मार्मिक बनाया है। कवि ने वसन्तवर्णन, रैवतकवर्णन, जलक्रीड़ा, सूर्योदय, सुरत, मदिरापान प्रभृति काव्य विषयो का समावेश कथा को सरस बनाने के लिए किया है।[5] घटनाप्रवाह क्षीण होने पर भी अलंकृत वर्णनों की प्रधानता है। संध्या, प्रभात, नगर, देश, वन, नदी, पर्वत, समुद्र, द्वीप आदि प्राकृतिक वस्तुओ का सागोपांग और अलंकृत वर्णन निहित है। जीवन के विभिन्न व्यापारों और परिस्थितियों के चित्रण में पूर्वचिन्ता, प्रेम, विवाह, कुमारोदय, मधुपान, गोष्ठी, वनविहार, जलक्रीड़ा आदि का निरुपण किया गया है। कवि ने युगजीवन का चित्रण वस्तुव्यापारों और परिस्थितियों के द्वारा प्रस्तुत किया है।

भट्टारक शुभचन्द्र ने वाग्वर (वागड) प्रान्त के अन्तर्गत शाकवाट (सागवाडा) नगर में विक्रम संवत् 1608 भाद्रपद द्वितीया के दिन पाण्डवपुराण की रचना की। इसकी श्लोक सख्या 6000 है। इस रचना में भट्टारक शुभचन्द्र ने हरिवशपुराण तथा देवप्रभसूरि विरचित पाण्डवचरित्र का काफी उपयोग किया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने हरिवश पुराणोक्त कथा तथा शब्दरचना का आश्रय लेते हुए उक्त कथा को अपनी रुचि व आम्नाय के अनुसार यत्र तत्र परिवर्द्धित भी किया है।

उदाहरणार्थ हरिवंशपुराणकार ने पाण्डवों की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है-

'शान्तनु राजा की पत्नी योजनगन्धा थी। इससे उनके धृतव्यास पुत्र हुआ। धृतव्यास का पुत्र धृतधर्मा और उसका भी पुत्र धृतराज था। धृतराज के अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नाम की तीन पत्नियाँ थी। उनसे धृतराज के क्रमशः धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र हुए। इनमें धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि थे। पाण्डु का विवाह कुन्ती के साथ हुआ था। उसके विवाह होने से पूर्व कन्यावस्था में कर्ण पुत्र हुआ, पश्चात् विवाहित अवस्था मे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पुत्र हुए। नकुल और सहदेव पाण्डु की द्वितीय पत्नी भाद्री से उत्पन्न हुए थे। यहाँ भीष्म का जन्म शान्तनु की ही परम्परा में गंगा नामक माता से बतलाया गया है।

पाण्डव पुराण में उनकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है- शान्तनु के सवकी नामक पत्नी से पराशर राजा उत्पन्न हुआ। उसका विवाह जन्हु विद्याधर की पुत्री जान्हवी के साथ हुआ। इन दोनों के गांगेय पुत्र उत्पन्न हुआ। गांगेय के अपूर्व त्याग व विशेष प्रयत्न से पराशर को नाविक परिपालित रत्नाङ्गद की पुत्री गुणवती (योजनगन्धिका) का लाभ हुआ था। पराशर और गुणवती ने व्यास को जन्म दिया। व्यास के सुमद्रा पत्नी से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें पाण्डु ने कुन्ती से कर्ण, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा भाद्री से नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया।

इस परम्परा में हरिवंशपुराण के कर्ता ने केवल शान्तनु आदि के नामों का ही उल्लेख किया है, किन्तु पाण्डवपुराण के कर्त्ता ने उन नामों के आश्रित कुछ विशेष, घटनाओं को भी जोड़ा है। जैसे-पराशर और गुणवती आदि। गुणवती यह नाम सम्भवतः शुभचन्द्र के द्वारा ही कल्पित किया गया प्रतीत होता है, अन्यथा महाभारत, देवप्रभसूरि के पाण्डवचरित ओर उत्तरपुराण में इसके स्थान पर सत्यवती नाम पाया जाता है। हरिवंशपुराण में शान्तनु की पत्नी का जो योजनगन्धा नाम निर्दिष्ट किया गया है, पाण्डवपुराण के कर्त्ता ने भी उसका सम्बन्ध गुणवती (सत्यवती) के साथ जोड़ा है। (पर्व श्लो. 115) विशेषता यह है कि उन्होंने महाभारत अथवा देवप्रभसूरि के पाण्डवचरित्र के अनुसार इस घटना का सीधा सम्बन्ध शान्तनु से न जोड़कर उत्तरपुराण के निर्देशानुसार उनके पुत्र व्यास के साथ जोड़ा है।

हरिवंशपुरण में सुकुमारिका (द्रोपदी की पूर्व पर्याय) के साथ जिनदेव का वाड्निश्चय और जिनदत्त के साथ विवाह का उल्लेख पाया जाता है। यथा-

कन्यां तामाप दुर्गन्धां वृतां बन्धुभिरग्रजः।
परित्यज्य प्रवव्राज सुव्रतः सुव्रतान्तिके।।
कनीयान् जिनदत्तस्तां बन्धुवाक्योपरोधतः।
परिणीयापि तत्याज दुर्गन्धामतिदूरतः।

-हरिवंशपुराण 64/120-121

उत्तर पुराण पर्व 72 श्लोक 245 से 248 पर्यन्त के श्लोकों का भी यही

आशय है। अतः इन दोनों आचार्यों के अनुसार पाण्डवपुराणकार ने भी वैसा ही उल्लेख कर सुकुमारिका के साथ विवाह के साथ विवाह के प्रस्ताव से विरक्त होकर जिनदेव के दीक्षित होने तथा जिनदत्त के साथ उसके विवाह होने का उल्लेख किया है (पर्व 24 श्लोक 24-43)

इसके अतिरिक्त पाण्डवपुराण मे कुछ ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं, जो हरिवंशपुराण के पद्यों से अत्यन्त प्रभावित है। यथा–

ततस्ते दक्षिणान्देशान्विहृत्य हस्तिनं पुरम्।
गन्तुं समुद्यंताश्चासन् भुञ्जन्तो धर्मजंफलम्॥
क्रमान्मार्गवशात्प्रापुर्माकन्दीं नगरीं नृपाः।
स्वः पुरीमिवदेवौघर बुधसीमन्तिनीश्रिताम्॥
पा. पु 15/36-37

विहृत्य विविधान् देशान् दाक्षिणात्यान् महोदयाः।
ते हस्तिनापुरं गन्तुं प्रवृत्ता पाण्डुनन्दनाः।
प्राप्ता अर्गवशाद् विश्वे भाकन्दीं नगरीं दिवः।
प्रतिच्छन्दस्थितिं दिव्यां दधाना देवविभ्रमाः॥
हरिवंशपुराण 45/119-120

इनके अतिरिक्त निम्नांकित श्लोकों का भी मिलान किया जा सकता है–

ह. पुं. सर्ग 45-126	127-129	132	135-139	54, 57, 60
पाण्डव पु. प.-15 54	66-68	108	112-116	22, 8-18

सन्दर्भ

1. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान पृ. 114, 2 प. चैनसुखदास एव प. कस्तूरचन्द कासलीवाल के अनुसार, 3. शुद्धवैशाखत्रयोदशत्तिथौ–हरिवंशपुराण (काशी 1962 ई -ज्ञानपीठ सस्करण), 4 श्रावण सिते षष्ठया-उत्तरपुराण, 5 सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान पृ. 287, 6. पाण्डवपुराण-प्रस्तावना -ले.प. बालचन्द्र शास्त्री पृ. 1-3

जैन मन्दिर के पास, बिजनौर, उ.प्र.

डॉक्टर जगदीशचन्द्र जैन : व्यक्तित्व और कृतित्व

-डॉ. ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार"

जैन विद्या के प्रतिष्ठित विद्वानों में डा. जगदीशचन्द्र जैन का नाम अग्रपक्ति में आता है। उनका जन्म बीसवीं शताब्दी के पहले दशके के नवमें वर्ष अर्थात् 1909 में हुआ था। उन्होंने 1932 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी मे एम.ए. दर्शनशास्त्र की उपाधि तथा सन् 1944 में बंबई विश्वविद्यालय से "सोशियल लाइफ इन ऐंशिएंट इन्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनन्स" विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की र्थी। डा. जैन प्रतिभाशाली, स्वाध्यायी, लगनशील और स्वाभिमानी व्यक्तित्व के धनी थे। जीवन के प्रारभ से ही वे कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित थे। अपने मित्रों को वे हमेशा "कामरेड" कहकर सम्बोधित किया करते थे।

डा. जैन 1952 से 1969 तक रामनारायण रुइया कालेज, बंबई मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर के रूप मे शिक्षण कार्य मे सलग्न रहे। बीच मे अक्टूबर 1958 से नवबम्बर 1959 तक वे प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली में प्राकृत और जैनशास्त्र विषय के क्लास वन प्रोफेसर भी रहे। वैशाली में अपनी नियुक्ति के सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं---- "सन् 1956 से ही प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर (बिहार) में मेरी नियुक्ति की बात चल रही थी। लगभग दो वर्ष बाद बिहार सरकार ने अपनी भूल का संशोधन कर अन्तत: अक्टूबर, 1958 मे प्राकृत जैन विद्यापीठ में मेरी नियुक्ति कर उदारता का परिचय दिया।" (प्राकृत साहित्य का इतिहास भूमिका, पृ.4)

प्राकृत जैन विद्यापीठ के संस्थापक डाइरेक्टर डॉक्टर हीरालाल जैन के कार्यकाल में डा. जैन यहां नियुक्त हुए थे। डा. हीरालाल जैन के विषय मे उन्होंने लिखा है----"प्राकृत जैन विद्यापीठ के डाइरेक्टर डॉक्टर हीरालाल जैन का मुझ पर विशेष स्नेह रहा है। विद्यापीठ में उनका सहयोगी तनकर कार्य करने का सौभाग्य मुझे मिला, उन्होंने मुझे सदा प्रोत्साहित ही किया।" (प्राकृत

साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृ. 5)

पूर्व संस्था के पदाधिकारियों द्वारा प्राकृत जैन विद्यापीठ में कार्य करने हेतु अनुमति देने के लिए उनके प्रति डा. जैन ने आभार व्यक्त किया है----"पूना की शिक्षण प्रसारक मण्डली द्वारा संचालित रामनारायण रुइया कालेज, बंबई के अधिकारियो का भी मे अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने अवकाश प्रदान कर मुझे प्राकृत जैन विद्यापीठ में कार्य करने की अनुमति दी।" (प्राकृत साहित्य का इतिहास, भूमिका पृ. 5)

वर्तमान मे संस्थान के वरिष्ठ प्रोफेसर डा. लालचन्द जैन ने चर्चा के दौरान बताया कि प्रो. जगदीशचन्द्र जैन ने अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए ही वैशाली को छोड़ा था। सम्भवत: डा. जैन की किसी अपेक्षा को बिहार सरकार पूर्ण नही कर सकी थी, जिसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने पाकृत विद्यापीठ की प्रोफेसरशिप से त्याग-पत्र दे दिया और उन्होंने बिहार की राजधानी पटना मे सवाददाता सम्मेलन आयोजित कर कहा कि बिहार सरकार के कार्यकलापो से असतुष्ट होकर में त्याग-पत्र देकर जा रहा हूँ।

बाद मे डा. जैन प्राकृतशोध सस्थान की जनरल काउन्सिल, प्रकाशन समिति एवं प्राकृत डिक्शनरी प्रोजेक्ट की सलाहकार समिति के अनेक वर्षो तक मानद सदस्य रहे है। संस्थान के क्रियाकलापो मे उनका सहानुभूति पूर्ण सहयोग रहा है। लगभग 1987 की बात है। डा. जैन संस्थान की जनरल काउन्सिल की बैठक तथा महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित विद्वत्गोष्ठी में प्रमुख वक्ता के रूप में वैशाली आये थे, जिसका उन्हें हवाई जहाज का मार्ग-व्यय देय था, किन्तु जटिल सरकारी प्रक्रिया के कारण उस समय उन्हे मार्ग-व्यय का भुगतान नहीं हो पाया। किन्हीं अन्य कारणों से उनका भुगतान लगभग दो वर्ष तक लम्बित रह गया। इससे दुखी होकर डा. जैन ने भारत सरकार और बिहार सरकार के सम्बद्ध मंत्रालयों, विभागों तथा बिहार के राज्यपाल को भी उक्त सन्दर्भ मे लिख दिया। तब आनन-फानन में संस्थान के तत्कालीन प्रभारी निदेशक प्रो. लालचन्द जैन के प्रयत्न से सन् 88-89 में उन्हे बकाया मार्ग-व्यय का भुगताान किया जा सका। ऐसे स्वाभिमानी और निर्भय थे डा. जगदीशचन्द्र जैन।

मेरे विद्यागुरू प्रोफेसर (डा. गोकुलचन्द्र जैन पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, वाराणसी) से डा. जैन के अत्यन्त मधुर एवं नजदीकी सम्बन्ध रहे हैं। डा. जैन के सम्बन्ध में मैंने उनसे अनेक संस्मरण सुने हैं। जिनमें विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के 1994, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के 1987 और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के यू.जी.सी. सेमिनारों की स्मृतियाँ, गाधीजी से सम्बद्ध घटना और डा. फूलचन्द जैन प्रेमी जी की पुस्तक "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" का संस्मरण प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

डा. जैन के दर्शन एवं साक्षात्कार का मुझे दो बार अवसर मिला है। पहली बार सन् 1987 में "प्राकृत एवं जैनविद्या की अन्तरशास्त्रीय अध्ययन सगोष्ठी", प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणी मे उनका व्याख्यान सुनने एवं सेवा करने का अवसर मिला था, उस समय मे उक्त विभाग में विद्यावारिधि (पीएच. डी.) की उपाधि के लिए अनुसन्धान कार्य कर रहा था। दूसरी बार सम्भवत: वे वैशाली से लौटते समय जैन सिद्धात भवन को देखने हेतु आरा पधारे थे, उस समय अपनी जिज्ञासा शान्त करने हेतु मुझे मौका मिल गया और तत्काल ही मैंने गुरूमुख से सुने हुए गांधीजी से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सन्दर्भ को जानने की इच्छा उनके सामने व्यक्त कर दी। उन्होने प्रसन्नातापूर्वक पूरी घटना का यथार्थ चित्रण हम लोगों के समक्ष कर दिया। उस समय मेरे साथ आरा के प्रमुख समाज सेवी बाबू सुबोधकुमार जैन रईस, प्रो. राजाराम जैन, श्री जिनेशकुमार जैन आदि भी मौजूद थे।

रामनारायण रुइया कालेज, बम्बई से सेंवानिवृत्ति के बाद डा. जैन 1970 में पश्चिम जर्मनी के कील विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन विभाग के अनुसन्धान प्रोफेसर नियुक्त हुये, वहां उन्होंने 1974 तक भारतीय विधाओ पर अनुसंधान कार्य किया।

डा. जैन को अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अवार्ड प्राप्त हुए हैं----"प्राकृत ज्ञान भारती एजूकेशन ट्रस्ट, बैंगलोर" ने सन् 1990 में पहली बार प्राकृत और जैनविद्याओं के क्षेत्र में शोधरत विद्वानों के लिए "प्राकृत ज्ञानभारती अवार्ड" देने की घोषणा की। इसके लिए 10 वयोबृद्धों का चयन किया गया, जिनमें

डा. जगदीशचन्द्र जैन का नाम पहला था। ये अवार्ड विद्वानों को "प्रथम राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलन में दिसम्बर 8-9, सन् 1990 को प्रदान किये गये। उसी समय उक्त ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलन तथा प्राकृत ज्ञान भारती अवार्ड को ट्रस्ट के प्रमुख वार्षिक कार्यो में एक महत्वपूर्ण कार्य होने का संकल्प व्यक्त किया। डॉ. जैन ने अपनी और से उक्त पुरस्कार योजना मे सहयोग हेतु पाँच हजार रुपये देने की घोषणा की।

डॉ. जैन के सम्मान में भारत सरकार के संचार विभाग ने डाक टिकिट जारी किया था। "प्रथम प्राकृत ज्ञानभारती अवार्डस्" के प्रकाशित विवरण के अनुसार डा. जैन 1990 तक लगभग 70 ग्रन्थ लिख चुके थे। वहाँ केवल ग्रन्थो की संख्या का उल्लेख है। मैं सीमित साधनों में उनकी जिनकृतियो के सन्दर्भ खोज सका हूँ, उनकी सूची इस प्रकार है----

1. स्याद्वाद-मंजरी सम्पादन एव अनुवाद, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, 1935, 1970
2. जैन आगमो में प्राचीन भारत का चित्रण, लेखन, 1945
3. दो हजार बरस पुरानी कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1946
4. प्राचीन भारत की कहानियाँ, हिन्द किताब्स लिमिटेड, बम्बई, 1946
5. सोशियल लाइफ इन ऐंशिएशट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनन्स, न्यू बुक कम्पनी, बम्बई, 1947
6. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1952
7. प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1961
8. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
9. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-2, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1966, 1989
10. प्राकृत जैन कथा साहित्य, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, 1971
11. द जैन वे आफ लाइफ, द एकेडेमिक प्रेस, गुड़गांव, 1991
12. भारतीय तत्वचिन्तन, राजकमल प्रकाशन।

13. रमणी के रूप।
14. वसुदेवहिण्डी।
15. द जेनीसिस एण्ड ग्रोथ ऑफ प्राकृत जैन नैरॅटिव लिटरेचर,
   डा. जैन की कतिपय कृतियो का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है---

स्याद्वादमंजरी

स्याद्वादमंजरी विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैनदर्शन के पाठ्यक्रमों में निर्धारित लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ है। इसके हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती भाषाओ मे अनेक सस्करण प्रकाशित हुए हैं। 1932 में डा. जैन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम.ए. (दर्शनशास्त्र) में अध्ययन कर रहे थे, उसी समय स्याद्वादमंजरी पर कार्य करने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसे उन्हीं के शब्दों मे देखे---''जिस समय में हिन्दू युनिवर्सिटी में एम.ए. में आदरणीय प्रो. फणिभूषण अधिकारी से स्याद्वादमंजरी पढ़ता था, उस समय मुझे उनके साथ दर्शन शास्त्र के अनेक विषयों पर चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समय से मेरी इच्छा थी कि मैं स्याद्वादमंजरी पर कुछ लिखकर जैनदर्शन तथा राष्ट्रभाषा की सेवा करूं। संयोगवश पिछले वर्ष (1934 ई.) मेरा बम्बई में आना हुआ और मैंने रामचन्द्र जैनशास्त्रमाला के व्यवस्थापक श्रीयुत मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन झवेरी की स्वीकृतिपूर्वक स्याद्वादमंजरी का काम आरंभ कर दिया।'' (स्याद्वादमंजरी की भूमिका पृ. 5)

आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का अनुकरण करते हुए तीर्थकर महावीर की स्तुति में अन्यव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका नाम की दो द्वात्रिंशिकाएँ रची थीं। अन्ययोगव्यवच्छेदिका में अन्य दर्शनों में दूषणो का प्रदर्शन किया गया है तथा अयोगव्यवच्छेदिका में स्वपक्ष की सिद्धि की गई है। अन्योगव्यवच्छेदिका की मल्लिषेणसूरि की संस्कृत टीका का नाम स्याद्वादमंजरी है। स्याद्वादमंजरी के इसी संस्करण में हिन्दी अनुवाद के साथ मूलरूप मे अयोगव्यवच्छेदिका भी समायोजित की गई है।

ग्रन्थ का यह संस्करण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसका संशोधन रायचन्द्र शास्त्रमाला की एक प्राचीन और शुद्ध हस्तलिखित प्रति के आधार से

किया गया है। प्रति में लेखनकाल का उल्लेख नहीं है। मूलपाठ के कठिन स्थलों को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत में टिप्पणियाँ दी गई हैं। अनुवाद को यथासंभव सरल-सुबोध बनाया गया है। विषय को सरल और स्पष्ट बनाने के लिए न्याय के कठिन विषयों को शंका-समाधान, वादी-प्रतिवादी, स्पष्टार्थ, भावार्थ आदि शीर्षक देकर प्रस्तुत किया गया है। उक्त संस्करण का परिशिष्ट भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इस सम्बन्ध में डा. जैन के ये वाक्य दृष्टव्य हैं--

"परिशिष्ट-इस संस्करण का महत्वपूर्ण भाग है। इसमे जैन, बौद्ध, न्याय-वैशषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और विविध नाम के आठ परिशिष्ट हैं। जैन परिशिष्ट में तुलनात्मक दृष्टियो में बौद्धों के विज्ञानवाद, शून्यवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक सिद्धांतों का पालि, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थों के आधार से प्रामाणिक विवेचन किया गया है। आशा है इसके पढ़ने से पाठकों की बौद्ध दर्शन संबंधी बहुत-सी भांति-पूर्ण धारणाये दूर होगी। तीसरे न्याय-वैशेषिक परिशिष्ट में ईश्वर संबंधी चर्चा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चौथे सांख्य-योग परिशिष्ट में सांख्य, योग जैन और बौद्ध दर्शनो की तुलना करते समय जो ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति संबधी भेद दिखाया गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पांचवे परिशिष्ट में मीमांसक और जैनों की तुलना, छठे में शंकर के मायावाद की विज्ञानवाद और शून्यवाद से तुलना, सातवे में चार्वाकमत और आनन्दघन जी का उसे जिन-भगवान की कूख बताना और आठवे परिशिष्ट मे आजीविक सम्प्रदाय ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य हैं।" (स्याद्वादमंजरी की भूमिका, पृ. 4-5)।

उपर्युक्त परिशिष्ट अत्यन्त परिश्रम पूर्वक लिखा गया है। इसे देखने से लेखक के गंभीर अध्ययन एव चिन्तन-मनन की अद्भुत क्षमता का पता सहज ही लग जाता है। ग्रन्थ के अन्त मे विशेष महत्व की तेरह अनुक्रमणिकायें भी दी गई हैं।

प्राकृत साहित्य का इतिहास

सन् 1945 मे जब डा. जैन ने "जैन आगमो मे प्राचीन भारत का चित्रण" नामक महानिबन्ध (थीसिस) लिखकर पूरा किया, उसी समय से उनकी इच्छा प्राकृत साहित्य का इतिहास लिखने की थी, जिसे वे प्राकृत-जैनशास्त्र विषय के प्रोफेसर के रूप मे नियुक्त होकर पूर्ण कर सके। प्राकृत भाषा के साहित्य

का इतिहास लिखना क्यो आवश्यक था, इसे हम उन्ही के शब्दो में देखते हैं-

"भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में प्राकृत का पठन-पाठन हो रहा है, लेकिन उसका जैसा चाहिए वैसा आलोचनात्मक क्रमबद्ध अध्ययन अभी तक नहीं हुआ। भारत के अनेक सुयोग्य विद्वान इस दिशा मे श्लाघनीय प्रयत्न कर रहे हैं, जिसके फलस्वरूप अनेक सास्कृतिक और ऐतिहासिक महत्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थ प्रकाश मे आये है। लेकिन जैसा ठोस कार्य संस्कृत साहित्य के क्षेत्र मे हुआ है वैसा प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में अभी तक नही हुआ। इस दृष्टि से प्राकृत साहित्य के इतिहास को क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यह सर्वप्रथम प्रयास है।"

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृ.-1)

उक्त ग्रन्थ ग्यारह अध्यायों मे विभक्त है। पहले अध्याय में भाषाओ का वर्गीकरण करते हुए लेखक ने प्राकृत का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। दूसरे अध्याय मे अर्धमागधी जैन आगम साहित्य के बारह अगो, बारह उपांगो, प्रकीर्णकों, छेदसूत्रो तथा मूलसूत्रो का समीक्षात्मक विवरण है। तीसरे अध्याय में आगम साहित्य पर रचित निर्युक्तियो, भाष्यो, पूर्णियो और टीकाओ का परिचय दिया गया है। चौथे अध्याय में शौरसेनी प्राकृत के आगम एव आगमेतर साहित्य का वर्णन है। पॉचवें अध्याय मे आगमोत्तर कालीन जैनधर्म सम्बन्धी साहित्य को सामान्य ग्रन्थ, दर्शन-खंडन-मंडन, सिद्धात, कर्म सिद्धात, श्रावकाचार, प्रकरण-ग्रन्थ, सामाचारी, विधि-विधान आदि शीर्षकों में विभाजित करके उनका समीक्षात्मक विवरण दिया गया है। छठे अध्याय में कथाओ का महत्व प्रतिपादित करते हुए लेखक ने लगभग पैतीस कथा ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया है। इसी अध्याय में औपदेशिक कथा-साहित्य को पृथक् शीर्षक देकर समाहित किया गया है। सातवें अध्याय मे प्राकृत के चरित ग्रन्थों और स्तुति-स्तोत्र साहित्य का विवरण है। आठवें अध्याय मे प्राकृत काव्य साहित्य के उन्नीस ग्रन्थों का परिचय कराया गया है। नौवें अध्याय में संस्कृत नाटकों में उपलब्ध प्राकृतों तथा प्राकृत में रचित छह सट्टकों का परिचय है। दसवे अध्याय में प्राकृत के व्याकरणों, छन्दशास्त्र के ग्रन्थों, कोश तथा संस्कृत के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली प्राकृत का समीक्षात्मक विवरण

प्रस्तुत किया गया है। ग्यारहवे अध्याय मे शास्त्रीय प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुशास्त्र आदि के ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। इसी अध्याय मे प्राकृत के हाथीगुंफा और नासिक के शिलालेखो का सक्षिप्त ब्योरा भी प्रस्तुत है।

अन्त में परिशिष्ट-1 के अन्तर्गत प्राकृत ग्रन्थों के कुछ विशिष्ट शब्दो की सूची मूल प्राकृत एवं हिन्दी अनुवाद के साथ दी गई है। परिशिष्ट-2 मे अलकार ग्रन्थों में उपलब्ध प्राकृत के प्राय: पाँच सौ पद्य हिन्दी अनुवाद के साथ दिये गये हैं। सहायक ग्रन्थो की सूची तथा ससन्दर्भ विस्तृत शब्दानुक्रमणिका भी ग्रन्थ के अन्त में समायोजित है।

उक्त ग्रन्थ मे ई. पू. 5वी शती से लेकर 1800 ई. तक अर्थात् लगभग 2300 वर्षो मे लिखे एवं सकलित किये गये तीन सौ से अधिक प्राकृत ग्रन्थो का समीक्षात्मक तथा सिलसिले बार विवरण पहली बार प्रस्तुत किया गया है। इसलिए उक्त ग्रन्थ विशेषरूप से महत्वपूर्ण है। यह भी संयोग ही है कि डॉ जैन ने प्राकृत जैनशास्त्र और अहिसा शोध संस्थान, वैशाली के प्राकृतिक एव सुरम्य वातावरण मे लगभग एक वर्ष तक लगातार कठिन परिश्रम करके पहला प्राकृत साहित्य का इतिहास लिखा।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-2

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी ने अनेक भागो मे "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास" विशेषज्ञ विद्वानो से तैयार करवाकर प्रकाशित करने की योजना प्रस्सावित की थी। उसी योजना के अन्तर्गत दूसरे भाग के लेखन का दायित्व डॉ. जगदीशचन्द्र जैन एव डॉ. मोहनलाल मेहता को सौपा गया था, जिसे उक्त विद्वानों ने पूरी जिम्मेदारी से निभाया। दूसरे भाग मे अगबाह्य आगमो का विस्तृत और आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। लेखन के सम्बन्ध में डॉ. मेहता ने ग्रन्थ के प्राक्कथन में स्वयं लिखा है----"प्रस्तुत भाग का उपांग एवं मूलसूत्र विभाग यशस्वी विद्वान डॉ. जगदीशचन्द्र का लिखा हुआ है तथा शेष अंश मैंने लिखा है।" (पृ. 5)

औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, निरयावलिका या कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका

और वृष्णिदशा ये बारह उपांग कहे गयें हैं। उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और ओद्य निर्युक्ति ये मूलसूत्र हैं।

प्राकृत जैन कथा साहित्य

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेवानिवृत्त प्राध्यापकों को विशिष्ट अध्ययन-अनुसधान के निमित्त दिया जाने वाला पुरस्कार (फैलोशिप) डॉ. जैन को मिला था। 1970 में वे उसी के लिए प्राकृत कथा साहित्य पर अनुसंधान कार्य कर रहे थे। इसी बीच पं. दलसुख मालवणिया ने डा. जैन से श्री लालभाई दलपतभाई व्याख्यान माला के अन्तर्गत "प्राकृत जैन कथा साहित्य" विषय लेकर व्याख्यान देने हेतु अनुरोध किया, जिसे उन्होंने तुरन्त स्वीकार किया। उक्त व्याख्यान लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर अहमदावाद मे 7,8 एव 9 सितम्बर 1970 को सम्पन्न हुए। उन व्याख्यानो का मुद्रितरूप "प्राकृत जैन कथा साहित्य" नामक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कथाओ का सग्रह मात्र नही है, अपितु जैन कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन भी है जो अपूर्व है। डॉ. जैन ने इस ग्रन्थ में विशेषरूप से वसुदेवहिण्डी और बृहत्कथा सग्रह की कथाओ का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। कथाओं के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपादेय है। प्रस्तुति रूचिकर और भाषा सर्वग्राह्य है।

अर्धमागधी जैनागमो की टीकाओ में उपलब्ध कथाओ के अलावा प्राकृत भाषा मे रचित अनेक कथा ग्रन्थ हैं, जिनके आधार पर डॉ. जैन ने उक्त कथाग्रन्थ को संजोया है। लेखक की सूझ-बूझ का दिग्दर्शन ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण में सहज ही प्राप्त हो जाता है। लेखक ने कथाओ का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थो से जन सामान्य को परिचित कराना बतलाया है।

ग्रन्थ को लेखक ने चार अध्यायो मे प्रस्तुत किया है--- 1. प्राकृत की लौकिक कथाएँ 2. प्राकृत की धर्मकथाएँ 3. वसुदेवहिण्डी और बृहत्कथा तथा 4 जैनकथा साहित्य : कहानियों का अनुपम भडार। पहले अध्याय में कथाओ का महत्व एवं उद्देश्य बतलाया है। यहाँ शृंगार प्रधान कामसंबंधी कथाओं मे अगड़दत्त का कामोपाख्यान, सिंहकुमार और कुसुमावली की प्रेम कथा, कुवलयचन्द्र और

कुवलयमाला की प्रणयकथा तथा लीलावती और उसकी सखियो की प्रेम कथाएँ प्रमुखरूप से कही गई हैं। अर्थोपार्जन की कथाओं में चारुदत्त की साहसिक यात्रा, इभ्यपुत्रों की प्रतिज्ञा, लोभदेव की रत्नद्वीप यात्रा एवं पोतवणिकों के आख्यान हैं। यहीं पर मार्ग की थकान दूर करने वाली कथाएँ भी कही गई हैं। इन कथाओ से सस्कृतियों का आदान-प्रदान भी होता था।

दूसरे अध्याय में प्राकृत की धर्म और नीति संबंधी कथाएँ संकलित की गई हैं। इसमें धूर्तो और पाखण्डियो की कथाएँ, मूर्खो और विहों की कथाएँ, बुद्धिचमत्कार की कथाएँ पचतत्र और बौद्धजातका की कथाओं से जैन कथाओं की तुलना एवं वैराग्यवर्धक जैनकथाएँ प्रमुख रूप से दी गई हैं। तीसरे अध्याय में वसुदेव हिण्डी और बृहत्कथा की कथाओं की तुलना की गई है। चौथे अध्याय में जैन कथा साहित्य को लौकिक कहानियों का अनुपम भंडार कहा गया है। प्राकृत साहित्य में रोचक और मनोरजक लोककथाएँ, लोकगथाएँ, नीतिकथाएँ, दंतकथाएँ, परीकथाएँ, प्राणिकथाएँ, कल्पित कथाएँ, दृष्टान्त कथाएँ, लघुकथाएँ, आख्यान और वार्ताएँ उपलब्ध हैं, जो भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि हैं।

उपर्युक्त विवरण डॉ. जैन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का दिग्दर्शन मात्र है। वे बीसवीं शताब्दी के ऐसे विद्वान थे, जो सदी के सभी दशकों मे समाज को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नई दिशा देने में आगे रहे। 28 जुलाई 1994 को 85 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया। उनके निधन से समाज का एक मूर्धन्य विद्वान चला गया। ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् को मेरा श्रद्धापूर्वक शत-शत नमन।

प्राध्यापक, प्राकृत एवं जैनशास्त्र,
प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,
वैशाली (बिहार)-844128

प्रथम शताब्दी में जैन धर्म का विकास

-रजनीश शुक्ल, उदयपुर

जैन साहित्य का वाङ्मय विशाल है, भारतीय साहित्य में उसका एक विशिष्ट स्थान है। लोकोपकारी अनेक जैनाचार्यो ने अपने जीवन का बहुत सा भाग उसकी रचना में व्यतीत किया है। जैन धर्म में बड़े-बड़े आचार्य हुए जो प्रबल तार्किक, दार्शनिक साहित्यिक तथा कवि थे। उन्होंने जैन धर्म के साथ साथ भारतीय साहित्य के इतर क्षेत्रों में भी कार्य किये। दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, कथा, शिल्प, मंत्र-तत्र, वास्तु, वैद्यक आदि अनेक विषयों पर प्रचुर जैन साहित्य आज भी उपलब्ध है। जैन धर्म ने प्रारम्भ से ही अपने प्रचार के लिए विविध भाषाओं को अपनाया। विश्व मे वैदिक परम्परा की ही तरह श्रमण परम्परा भी अति प्राचीन काल से इस देश में प्रवर्तित है। इन्ही दोनो परम्पराओं के मेल से प्राचीन भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। उन्ही श्रमणों की परम्परा में भगवान ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त तथा अद्यतन युग तक वहीं परम्परा चली आ रही है। प्रसिद्ध दार्शनिक राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन में लिखा है कि ''जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पति होने का कथन करती हैं। जो बहुत शताब्दियों पूर्व हुए है। इस बात के साक्ष्य प्राप्त हो चुके है कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी मे तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इस काल के विद्वानो को सन्देह नही होना चाहिए कि जैनधर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से ही प्रचलित था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव अजितनाथ, अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है।[1] भागवत पुराण का यह कथन कि ऋषभदेव ही जैनधर्म के संस्थापक थे, यह इस बात का समर्थन करता है कि महावीर से जैन धर्म की उत्पत्ति मानना गलत है।[2]

जब हम किसी के इतिहास की बात करते है तो महाभारत का यह कथन है कि ''इतिहास दीपक तुल्य है। वस्तु के कृष्ण श्वेतादि यथार्थ रूप को जैसे दीपक प्रकाशित करता है, वैसे ही इतिहास मोह के आवरण को   कर,

भ्रांतियों को दूर करके सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जाने वाली यथार्थता का प्रकाशन करता है। अर्थात् दीपक के प्रकाश से पूर्व जैसे कक्ष में स्थित वस्तुए विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होती हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भ भूत सत्य इतिहास के बिना सुव्यवस्थित नही होता।''[3]

इसी इतिहास की परम्परा को सुदृढ़ व स्थायी बनाऐ रखने के लिए उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा पंचदिवसीय ''भगवान महावीर के छब्बीस सौ वर्ष'' विषयक कार्यशाला मे हमें प्रथम शताब्दी में जैनधर्म विषय दिया गया था। इस आलेख में प्रथम शताब्दी के आचार्य साहित्यकार और कतिपय राजाओं के बारे में प्रकाश डाला गया है।

लोक भाषा में भी जैन साहित्य की रचना पायी जाती है इसी से जर्मन विद्वान डॉ. विण्टरनित्स ने लिखा है कि भारतीय की दृष्टि से जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैन सदा इस बात की विशेष परवाह रखते थे कि उनका साहित्य अधिक से अधिक जनता के परिचय में आए। इसी से आगमिक साहित्य तथा प्राचीनतम टीकाएं प्राकृत मे ही लिखी गयीं।

प्रमुख आचार्य गुणधर एवं कषायपाहुड

गुणधर दिगम्बर परम्परा के मनीषी आचार्य थे। दिगम्बर परम्परा के श्रुतधर आचार्यो मे आचार्य गुणधर का नाम प्रमुख है। आचार्य गुणधर को पंचम ज्ञानप्रवादपूर्वगत दशम वस्तु के तृतीय पेज्जदोष पाहुड का ज्ञान था। यह उनके कषायपाहुड के अध्ययन स प्रतीत होता है आचार्य गुणधर महाकम्मपयडि पाहुड के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हदबली का समय वीर नि. सं. 565 (विक्रम सं. 95) है। डॉ. नेमिचंद शास्त्री आदि विद्वानों ने गुणधराचार्य का समय वि. पूर्व प्रथम शताब्दी निर्धारित किया है।[5]

कषाय पाहुड ग्रंथ को समुद्र के तुल्य माना गया है। यह ग्रंथ दिगम्बर परम्परा का कर्मविज्ञान सम्बन्धी प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसका दूसरा नाम पेज्जदोष पाहुड भी है। कषाय पाहुड के 16000 पद्य परिमाण में वर्णित कर्म सम्बन्धी गंभीर विषय को 180 गाथाओं में उपसंहृत कर देना गुणधर आचार्य की विशेषता का प्रतीक है। गाथा सूत्र शैली में कषाय पाहुड की रचना हुई है।[6]

प्रमेयरत्नमाला टिप्पण में सूत्र लक्षणों की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है-

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात् अल्पाक्षरता, असंदिग्धता, सारवत्ता, गूढता, निर्दोषता, सहेतुता ये सूत्र के लक्षण हैं। इन समग्र लक्षणों से प्रस्तुत ग्रंथ की सूत्र शैली सरस और प्रभावक है। कषाय पाहुड ग्रन्थ में 15 अधिकार हैं और 53 विवरण गाथाओं सहित 233 गाथाएं है। इन अधिकारों में और 233 गाथा सूत्रो में क्रोधादि कषायों का, राग-द्वेष की परिणतियों का, कर्मो की विभिन्न अवस्थाओं का तथा इन्हे शिथिल करने वाले आत्म परिणामों का विस्तृत विवेचन है।

धरसेन एवं षट्खण्डागम

(दिगम्बर परम्परा के आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्त के पारगामी विद्वान् थे। अंग और पूर्वो का उन्हे एकदेशीय ज्ञान परम्परा से प्राप्त था-

तदो सव्वेसिगं-पुव्वाणामेगदेशो आइरिय परम्पराए।
आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो॥

अग्रायणी पूर्व की पंचम वस्तु के अन्तर्गत (महाकम्मपयडी) नामक चतुर्थ प्राभृत का भी उन्हे विशिष्ट ज्ञान था। आगम मिधि सुरक्षित रखने का यह कार्य आचार्य धरसेन के दूरदर्शी गुण को प्रकट करता है। मंत्र तंत्र और शास्त्रों पर भी उनका आधिपत्य था। जैन समाज के पास आज षटखंडागम जैसी अमूल्य कृति है, उसका श्रेय आचार्य धरसेन को है।

समय-संकेत– आचार्य धरसेन अर्हद्बलि के समसामयिक थे। प्राकृत पट्टावली के अनुसार धरसेन का समय वीर निर्माण सम्वत् 614-683 निर्धारित किया है।[4] नन्दीसंघ की प्राकृत पटावली में अर्हद्बली के लिए वी. नि. 565 ई. सन 38 का उल्लेख है।

पुष्पदन्त और भूतबलि महामेधा सम्पन्न आचार्य थे। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा आचार्य धरसेन के ज्ञान-पारावार को ग्रहण करने में सक्षम सिद्ध हुई। आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के शिक्षागुरु धरसेन थे।

दिगम्बर परम्परा में साहित्य रचना के क्षेत्र में आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि का अनुदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। षट्खण्डागम की रचना इन दोनों आचार्यों के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है।)

ग्रंथ का परिचय इस प्रकार है।

षट्खंडागम

यह एक विशाल ग्रंथ है। इसके छह खण्ड है। प्रथम खण्ड का नाम जीवट्ठाण (जीवस्थान) है। द्वितीय खंड का नाम खुद्दाबंध (क्षुद्रकबंध), तृतीय खण्ड का नाम बंधसामित्त विचय खण्ड (बंधस्वामित्व विचय), चतुर्थ खण्ड का नाम वेयणा खण्ड-(वेदना खण्ड), पाचवें खण्ड का नाम वर्गणा खण्ड तथा षठे खण्ड का नाम महाबंध है। षट्खण्डागम के छह खण्डों में चालीस सहस्र श्लोक है।

जीवट्ठाण खण्ड– इस खण्ड में सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भव, अल्पबहुत्व नाम के आठ प्रकरण है, तदन्नतर 9 चुलिकाएं हैं। जीव के गुण धर्म और नाना अवस्थाओं का वर्णन प्रस्तुत खण्ड में है। इसकी कुल सूत्र संख्या 2375 है।

खुद्दाबंध खण्ड– द्वितीय खंड का नाम खुद्दाबंध (क्षुद्रकबंध) है। इस खण्ड में 11 अनुयोगद्वार हैं। इस खण्ड के प्रारम्भ में अनुयोगों से पूर्व बंधकों के तत्त्वो की प्ररूपणा है एवं अनुयोगों के बाद चूलिका के रूप में महादण्डक प्रकरण दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड में 13 अधिकार हो जाते हैं। कर्म प्रकृति प्राभृत के बंधक अधिकार के बंध आदि चार अनुयोगों में से बंधक विषय का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। खण्ड में कुल सूत्र 1582 है। महाबंधक की अपेक्षा यह प्रकरण छोटा होने के कारण इस खण्ड का नाम क्षुद्रक बंध है।

बंधसामित्त विचय खण्ड (बंध स्वामित्व विचय)– इस खण्ड में कर्मबंध करने वाले स्वामियों पर विचार किया गया है। यह इस खण्ड के नाम से ही स्पष्ट है। इस खण्ड के कुल 324 सूत्र है।

वेयणा खण्ड– (वेदना खण्ड) इसके दो अनुयोगद्वार हैं। कुल सूत्र संख्या 1449 है। इस खण्ड की प्रथम कृति अनुयोगद्वार की सूत्र संख्या 75 है। द्वितीय वेयणा अनुयोगद्वार विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत खण्ड का नाम वेयणा है।

वर्गणा खण्ड– इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोग द्वार है। इन तीनों अनुयोग द्वारों में प्रथम अनुयोग द्वार के 63, द्वितीय के 31 एवं तृतीय के 142 सूत्र हैं। इस खण्ड में विभिन्न प्रकार की कर्म पुदगल वर्गणाओं का प्रतिपादन है।

महाबंध खण्ड– षष्ठ खण्ड का नाम महाबध है। महाबंध का विस्तार 30 सहस्र श्लोक परिमाण है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंध की व्याख्या इस खण्ड में है।

नंदी संघ की पट्टावली में इन आचार्यों की समय सूचना भी है। आचार्य पुष्पदंत का समय वी. नि. 633 से 663 (वि. 163 से 193) तक और आचार्य भूतबलि का काल वी. नि. 663 से 683 (वि. 193 से 213) तक सिद्ध होता है। इतिहासकार डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने आचार्य पुष्पदंत का समय इसवी सन् 50 से माना है।

इसी प्रकार से भूतबलि ने धरसेनाचार्य से सिद्धान्त विषयक शिक्षाएं ग्रहण की थी। भूतबलि ने अंकुलेश्वर में चातुर्मास समाप्त कर द्रविण देश में जाकर श्रुत निर्माण का कार्य किया है। पुष्पदंत द्वारा रचित प्राप्त सूत्रों के पश्चात भूतबलि ने षट्खडागम के शेष भाग की रचना की। डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने भूतबलि का समय ईसवी सन् 66 से 90 स्वीकृत किया है और षट्खडागम का संकलन ईसवी सन् 75 निर्धारित किया है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार से ज्ञात होता है कि भूतबलि ने पुष्पदंत द्वारा रचित सूत्रों को मिलाकर पाँच खण्डों के छः हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबध नामक छठे खण्ड की तीस हजार सूत्र की ग्रंथ रचना की।

आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके ग्रन्थ

आचार्य कुन्दकुन्द का दिगम्बर परम्परा में गरिमामय स्थान है। अध्यात्म

दृष्टि को उजागर करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। श्रुतधर आचार्यो की परम्परा मे उनको प्रमुख माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उनकी उत्तरवर्ती परम्परा मूल संघ और कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने मे गौरव अनुभव करती है। जैन धर्म का सुप्रसिद्ध एक श्लोक आचार्य कुन्दकुन्द के नाम के साथ स्मरण किया जाता है। वह श्लोक इस प्रकार है-

मंगल भगवान वीरो, मंगल गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

जीवन वृत्त- आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम शताब्दी ई. के आचार्य थे। इनका जन्मस्थान दक्षिण भारत में कौण्डकुण्डपुर नामक स्थान बताया गया है। इनके पिता करमण्डु तथा मात्रा श्रीमती थी। आचार्य कुन्दकुन्द के चार और नाम भी प्राप्त होते हैं यथा-पद्मनन्दी, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ। आचार्य कुन्दकुन्द की गुरूपरम्परा के सम्बन्ध मे सर्वसम्मत एक विचार प्राप्त नहीं है। बोधपाहुड के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द के दीक्षा गुरू भद्रबाहु थे।[7] जबकि शिक्षागुरू जिनसेन आचार्य को माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय के बारे में सभी विद्वान एकमत नही हैं। प. नाथूराम प्रेमी ने तृतीय शताब्दी तथा डॉ. के. बी. पाठक ने शक सवत 450 के लगभग माना है। डॉ. नेमिचंद शास्त्री ने ईसवी सन् की प्रथम शताबदी माना है। इनके समय के बारे में अनेक मतो के आधार पर डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने समीक्षात्मक रूप से यह निष्कर्ष उपस्थित किया है कि-

All this shows that he may safely be assigned to be early part of the First Century A.D. or to be exat to 8 B.C.-A.D. 44)

(The Jain Sources of the History of Ancient India Page 124-125)

वे दुर्गम वाटियों और वनों में भी निर्भीक भाव से विचरण करते थे। उसके पास तप का तेज था और साधना का बल था। उनका चिंतन अध्यात्म प्रधान था। कहा जाता है कि ये एक बार सीमंधर स्वामी के समवशरण में भी विदेह गमन किये थे।

साहित्य- अध्यात्म की भूमिका पर रचित आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ रत्न

महत्वपूर्ण हैं। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड (प्राभृत), दसभत्ति अथवा भत्ति संग्गहो (दस भक्ति अथवा भक्ति संग्रह) एवं बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) यह आचार्य कुन्दकुन्द विरचित ग्रंथ हैं। इन ग्रंथो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

समयसार– समयसार आर्या वृत (आर्या छन्द) में गुम्फित प्राकृत शौरसेनी भाषा का उत्तम कोटि का ग्रंथ माना गया है। टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र के अभिमत से इस ग्रंथ की 439 गाथाएं हैं। यह ग्रथ 9 अधिकारो में विभक्त है। अधिकारों के नाम ये हैं-(1) जीवाजीवाधिकार, (2) कर्ताकर्माधिकार, (3) पुण्य-पाप अधिकार, (4) श्रावक अधिकार, (5) संवर अधिकार, (6) निर्जरा अधिकार, (7) बंध अधिकार, (8) मोक्ष अधिकार, (9) सर्व-विशुद्धज्ञान अधिकार।

प्रवचनसार– यह ग्रंथ दर्शन प्रधान ग्रंथ है। इसकी शैली सरल और सुबोध है। इस ग्रंथ पर आचार्य अमृतचंद्र और जयसेन आचार्य की संस्कृत टीकाए है। आचार्य अमृतचंद्र की टीका के अनुसार कुल 275 गाथाएं है। आचार्य जयसेन की टीका के अनुसार 317 गाथाएं हैं। इस ग्रंथ में तीन प्रकरण है-प्रथम अधिकार में आत्मा और ज्ञान के संबंधों की चर्चा है। दूसरे अधिकार मे द्रव्य, गुण, पर्याय आदि ज्ञेय पदार्थो का विस्तृत वर्णन है तथा सप्तभंगी का सम्यक प्रतिपादन है और तृतीय अधिकार में चरित्र के स्वरूप का विवेचन बताया है। इस ग्रंथ में तीर्थंकर के प्रवचन का सार संग्रह है, अतः इस ग्रंथ का प्रवचनसार नाम सार्थक है। तीन अधिकारो में परिसमाप्य यह ग्रंथ जैन तत्व की गहनता को समझने के लिए विशेष पठनीय है। इस ग्रथ का द्वितीय प्रकरण सबसे बड़ा है। वह 108 गाथाओं में संपन्न हुआ है। दिगम्बर परम्परा संबंधी मुनिचर्या का वर्णन मुख्यतः तृतीय अधिकार में है। सचेलकत्व निषेध, स्त्री मुक्ति-निषेध, केवली कवलाहार निषेध आदि विषय बिन्दु भी इस अधिकार मे वर्णित हुए हैं।

पंचास्तिकाय– इस ग्रंथ में दो प्रकरण हैं। आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार इस ग्रंथ की 173 गाथाएं और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार 181 गाथाए है। इस ग्रंथ में पांच अतिकायों का विवेचन होने के कारण ग्रंथ का नाम

पचास्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुदगल और जीव इन पांचो अस्तिकायों के साथ काल द्रव्य की व्याख्या भी इस ग्रंथ मे है। ग्रंथ में प्रथम प्रकरण में छह द्रव्यो का वर्णन, और द्वितीय प्रकरण में नव पदार्थो की व्याख्या है।

जैन दर्शन सम्मत द्रव्य विभाग की सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध व्याख्या इस ग्रंथ से समझी जा सकती है। सप्तभगी का नाम निर्देश भी ग्रंथ के प्रथम प्रकरण मे उपलब्ध है। आचार्य अमृतचद्र की पचास्तिकाय टीका इस ग्रंथ के रहस्यों को समझने के लिए परम सहायक है।

नियमसार– नियमसार ग्रंथ में 12 अधिकार हैं। कुल गाथा संख्या 187 है। ग्रंथगत अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं-(1) जीवअधिकार, (2) अजीव अधिकार, (3) शुद्ध भाव, (4) व्यवहार चरित्र, (5) परमार्थ प्रतिक्रमण, (6) निश्चय प्रत्याख्यान, (7) परमालोचन, (8) शुद्ध-निश्चय प्रायश्चित, (9) परम समाधि, (10) परमभक्ति, (11) निश्चय परमावश्यक, (12) शुद्धोपयोग।

इन अधिकारों मे ध्यान, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यक का वर्णन है। अध्यात्म बिन्दुओ के समझने के लिए ये ग्रथ उपयोगी हैं। मोक्ष मार्ग मे नियम से (आवश्यक) करणीय ज्ञान दर्शन, चरित्र की आराधना पर बल दिया है। इनसे विपरीत आचरण को हेय बतलाया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार सर्वज्ञ भी निश्चय नय से केवल आत्मा को जानते हैं, व्यवहार नय से सबको जानते हैं।

अष्टपाहुड– आचार्य कुन्दकुन्द 84 पाहुडो (प्राभृतों) के रचनाकार थे पर वर्तमान में उनके पूरे नाम भी उपलब्ध नही हैं। पाहुड साहित्य मे दंसण पाहुड आदि आठ पाहुड प्रमुख माने गए है। उनके रचनाकार भी कुन्दकुन्द है। पाहुड ग्रथों का परिचय इस प्रकार है–

(1) दंसण पाहुड- इसमें कुल 36 गाथाए है। इसमे सम्यक दर्शन का विवेचन है।

(2) चरित्त पाहुड- इसमें कुल 44 गाथाएं है। श्रावक और मुनि धर्म का संक्षिप्त वर्णन है।

(3) **सुत्त पाहुड**- इसमें 27 गाथाएं हैं। इसमे आगम का महत्त्व समझाया गया है।

(4) **बोध पाहुड**- इसमें कुल 62 गाथाएं है। इनमें आयतन, देव, तीर्थ, अर्हत और प्रव्रज्या आदि 11 विषयो का बोध दिया गया है।

(5) **भाव पाहुड**- इसमें 163 गाथाए है। इनमें चित्त शुद्धि की महत्ता पर बल दिया गया है।

(6) **मोक्ख पाहुड**- इसमें कुल 106 गाथाओं मे मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा; आत्मा की इन तीन अवस्थाओ का वर्णन भी इस पाहुड मे उपलब्ध है।

(7) **लिगं पाहुड**- इसमें कुल 22 गाथाओ मे श्रमणलिंग और श्रमण धर्म का निरूपण है।

(8) **शील पाहुड**- इसमें 40 गाथाऐ हैं। इनमे शील की महत्ता का वर्णन है।

यह पाहुड साहित्य तात्त्विक दृष्टि से उपयोगी है। इसकी शैली सुबोध है। विषय का वर्णन संक्षिप्त है। प्राभृत साहित्य के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द का यह साहित्य-जगत को विशिष्ट उपहार है। प्रथम छह पाहुडों पर आचार्य श्रुतसागरजी की सस्कृत टीका भी है।

भक्ति संग्रह-

भक्ति संग्रह में आचार्य कुन्दकुन्द की आठ भक्तियां है। इनमें नाम इस प्रकार हैं-सिद्धभति, सुदभत्ति, चरितभत्ति, जोइभत्ति, आइरियभत्ति णिव्वाणभत्ति, पंचगुरूभत्ति, तित्थयरभत्ति।

सिद्धभत्ति (सिद्ध भक्ति)- इस भक्ति की 12 गाथाए हैं। सिद्धो के गुणो का वर्णन इस कृति में प्रस्तुत है। इस पर प्रभाचंद्राचार्य कृत सस्कृत टीका है। संस्कृत की सभी भक्तियां पूज्यपाद की और प्राकृत की भक्तिया कुन्दकुन्द की है। प्रभाचंद्राचार्य की टीका के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख है।

सुदभत्ति (श्रुत भक्ति)- इसमें आचाराग, सूत्रकृतांग आदि 12 अगो का भेद-प्रभेद सहित वर्णन है तथा 14 पूर्वो की वस्तु संख्या तथा प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों की संख्या भी इसमें है। इस कृति में कुल 11 गाथाएं हैं।

चरितभत्ति- इस भक्ति में सामायिक आदि पाचो चारित्रो का तथा 10 धर्मो का प्रमुखतः प्रतिपादन है।

जोइभत्ति (योगी भक्ति)- इसकी 23 गाथाएं है। योगियो की ऋद्धी-सिद्धि का वर्णन है।

आइरियभत्ति (आचार्य भक्ति)- इसकी 10 गाथाएं हैं। आचार्य के गुणों का वर्णन है।

निव्वाणभत्ति- इस कृति के अन्तर्गत 27 गाथाओं मे निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरों की स्तुति एवं निर्वाण स्वरूप का वर्णन है।

पंचगुरूभत्ति- इसके सात पद्य है। इन पद्यो मे परमेष्ठी पुरुषो को स्तवना पूर्वक नमन किया गया है।

तित्थयरभत्ति (तीर्थंकर स्तुति)- इसमे प्रमुखतः तीर्थंकरो का स्तवन है। इसमें आठ पद्य है। प्रत्येक तीर्थंकर को नामोल्लेखपूर्वक वदन किया गया है।

बारसाणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)- यह 91 गाथाओ का लघु ग्रंथ है। इसमे अनित्य, अशरण, भव (लोक), एकत्व, अन्यत्व, संसार, अशुचित्व, आश्रव, सवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओ का सम्यक प्रतिपादन है। वैराग्य रस से परिपूर्ण यह कृति प्रभावक है। 12 भावनाओ का निरूपण कई श्रावकाचार ग्रन्थो मे प्राप्त है।

आचार्य आर्यमंछु और नागहस्ती

इन दोनो आचार्यो को दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा मे उल्लिखित किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में आर्यमक्षु को आर्यमगु नाम से व्यक्त किया गया है। आर्यमंक्षु और नागहस्ती क्षमाश्रमण और महावाचक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्द्रनन्दी श्रुतावतार में इन दोनो को गुणधराचार्य का शिष्य और तिलोयपण्णत्तिकार यतिवृषभ आचार्य का गुरू बताया गया है। डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने नागहस्ती को 130-132 तथा आर्यमक्षु को नागहस्ती से पूर्ववर्ती मानकर उनका समय ईसवी सन 50 निर्धारित किया है। श्वेताम्बर परम्परा में पर्याप्त अन्तर बताया गया है।

आचार्य हस्तिमल्ल ने अपनी पुस्तक **जैन धर्म का मौलिक इतिहास** नामक ग्रन्थ में प्रथम शताब्दी के कुछ आचार्यों की तरफ संकेत किया है। जिनका परिचय निम्न प्रकार है-

कालकाचार्य द्वितीय

जैन श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य कालक द्वितीय कालक के रूप मे प्रसिद्ध हैं। वे क्रान्तिकारी आचार्य थे। उन्होंने पश्चिम ईरान एवं दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा तक की प्रलम्बलमान पद यात्रा की थी। आचार्यो की परम्परा में सुदूर विदेश यात्रा का सर्वप्रथम द्वार इन्होंने ही खोला। कालकाचार्य द्वितीय का समय **प्रथम शताब्दी** के पूर्वार्द्ध में माना गया है। इनका उल्लेख उत्तराध्ययन, वृहत्कल्प भाष्य, और अनेक ग्रन्थो में वर्णन प्राप्त होता है। जैनागम के अतिरिक्त ज्योतिष और निमित्त विद्या के विशिष्ट ज्ञाता थे। इस आचार्य ने पचमी के स्थान पर चतुर्थी तिथि को ही पर्युषण पर्व का आराधन प्रचलित किया था। इसका विवरण निशीथ चूर्णी नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

आचार्य खपुट

द्वितीय कालकाचार्य के पश्चात् प्रभावक आचार्यो मे आर्य-खपुट का नाम विशेष प्रभावशाली माना गया है। इनके जन्मस्थान, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में परिचय उपलब्ध नहीं होता। इनके जीवन की कतिपय प्रभावोत्पादक घटनाओं का उल्लेख जैनसाहित्य में दृष्टिगोचर होता है। आर्य खपुट का युग सम्भवत: विशिष्ट विद्याओं का युग रहा है। आवश्यक चूर्णि और निशीथ चूर्णि आदि में इन्हें विद्यारसिक एवं विद्याचक्रवर्ती जैसे विशेषणों से अभिहित किया गया है।

निशीथ चूर्णि भाग 3 पृ. 58

विक्रम की प्रथम शताब्दी में ही आचार्य वृद्धवादी का भी एक विशिष्ट स्थान रहा है। आपका जन्म गौड़देश के कौशलग्राम में इनका जन्म हुआ। विद्याधर वंश के आचार्य स्कन्दिलसूरि के उपदेश से विरक्त होकर उन्हीं के पास श्रमण दीक्षा ले ली।

साहित्यिक आचार्य

आर्य ख़पुट की ही तरह आर्य पादलिप्त महान प्रतिभाशाली आचार्य माने गये है। कोशलनगरी के महाराज विजयवर्मा के राज्य में फुल्ल नामक बुद्धिमान और दानवीर श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम प्रतिकाना था। वह रूप, शील और गुण की आधारभूमि होकर भी पुत्ररहित थी। काफी तपस्या के उपरान्त नागेन्द्र नामक पुत्र का जन्म हुआ। बाद में वही पादलिप्त के नाम से प्रसिद्ध हो गये। ईसवी की प्रथम शताब्दी आचार्य पादलिप्त सूरि का जन्म समय माना गया है। आचार्य पादलिप्त चमत्कारिक विद्याओं के स्वामी थे। पैरों पर ओषधियों का लेप लगाकर गगन में यथेच्छ विचरण की उनमे असाधारण क्षमता थी। वे सरस काव्यकार और सातवाहन वशी राजा हाल की सभा के अलंकार थे। आचार्य पादलिप्त के गुरू आचार्य नागहस्ती थे। आचार्य पादलिप्त का जन्म कोशल (अयोध्या) में हुआ था। वहाँ उस समय विजय ब्रह्म का राज्य था। पादलिप्त के पिता का नाम फूलचंद और माता का नाम प्रतिभा था।

पादलिप्त सूरि अपने युग मे विश्रुत विद्धान थे। वह युग प्राकृत का उत्कर्ष काल था। पादलिप्त सूरि ने तरंगवइ (तरंगवती) कथा का निर्माण प्राकृतभाषा में किया। 'निर्वाण कलिका' और 'प्रश्न-प्रकाश' नामक कृतियों के रचनाकार भी पादलिप्त सूरि थे। इन तीनों कृतियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है- (1) तरगवती कथा प्राकृत की सरस रचना हैं। जैन प्राकृत कथा साहित्य का यह आदि ग्रंथ है। अनेक जैन विद्वानों ने इस कथा का अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है। आचार्य शीलाक **चउपन्न महापुरुष चरिय ग्रंथ** मे लिखते है कि-

सावत्थि कला तं वत्थि लक्खणं जेन दीसई फुडत्थं।
पालित्तयाइविरइय तरंग वइयासु य कहासु॥

चउप्पन महापुरुष चरिय (123)

इस ग्रन्थ में कलाशास्त्र और लक्षणशास्त्र का सर्वाग विवेचन कथा में है। आगम साहित्य और चूर्णि में इस कथा को लोकोत्तर धर्म कथा कहा है। लेकिन वर्तमान मे यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है। तरगलोला ग्रंथ के रचनाकार नेमिचद्र गणि के मतानुसार तरंगवती कथा जनभोग्य नहीं किन्तु विद्वद्भोग्य थी।

सामान्य मनुष्यों को इस कथा को समझ पाना बहुत कठिन था। तरंगवती कथा के आधार पर ही नेमिचंद गणी ने 1642 गाथाओं में तरंगलोला कृति की रचना की है।

निर्वाण कलिका और प्रश्न प्रकाश-निवार्ण कलिका को दीक्षा और प्रतिष्ठा विधि विषयक तथा प्रश्न-प्रकाश को ज्योतिष विषयक ग्रंथ माना है। प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथों में पादलिप्त सूरि के तीन उक्त ग्रंथो का ही उल्लेख है।

राजा शासक वंश

विक्रमादित्य के शासन काल में अनेक बड़े आचार्य जैन परम्परा में हुए है। आचार्य हस्तिमल्ल जी ने लिखा है कि इस राजवंश में जैनधर्म का विकास निर्वाध गति से चलता रहा है तथा विद्वानो ने अनेक ग्रंथों में राजा विक्रमादित्य के राजवंश की यशोगाथा को बताया है। सातवाहन वंशी राजा हाल के समकालीन विद्वान गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में वृहत्त्कथा नाम के ग्रंथ की रचना की थी। उसी के अनुसार संस्कृत भाषा में कथा सरित्सागर की रचना सोमदेव ने की इसमें भी विक्रमादित्य का विस्तार से वर्णन किया गया है।

राजा सातवहन हाल ने भी अपनी गाथा सप्तशती में विक्रमादित्य के दान की चर्चा करते हुए कहा है कि-

संवाहणसुहरसतोसिएण, देन्तेण तुहकरे लक्खं।
चलणेण विक्क माइच्च, चरिअमणुसिथ्खअं तिस्सा।

-गाथासप्तशती 464

अर्थात् जिस प्रकार महादानी राजा विक्रमादित्य अपने सेवको द्वारा की हुई चरणसंवाहनादि, साधारण से भी संतुष्ट होकर उन्हें लाखो स्वर्ण मुद्राओं का दान कर देता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उस दानशीलता का अनुकरण करते हुए लाख के लाल रस से रंगे हुए प्रियतमा के चरणों में प्रियतम द्वारा किये गये चरण संवाहन से प्रसन्न होकर प्रियतम के हाथों में लाख (अर्थात् लाख स्वर्णमुद्रओं के समान लाख का लाल रंग) दे डाला। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि गाथासप्तशती के रचयिता महाराजा हाल के ही पूर्वज के हाथों रणक्षेत्र में आहत हुए थे। और उसके फलस्वरूप उज्जयिनी लौटने पर

विक्रमादित्य की मृत्यु हुई थी।

-जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृ. 546, आचार्य हस्तिमल्ल

हाल सातवहन आंध्र सातवाहन वंश का सातवां राजा था जिसका समय डॉ. ज्योति प्रसाद के अनुसार 20-24 ई. के लगभग निर्धारित किया जाता है। प्राचीन जैन साहित्य में सात वाहन राजाओं के अनेक उल्लेख मिलते है और उसमें से अनेकों का जैन होना भी सूचित होता है। इन जैन राजाओं में 'गाहासतसई' के रचयिता हाल के होने की संभावना है।

गाहासतसई प्राकृत काव्य परम्परा में मुक्तक के रूप मे महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। इसमें जैन विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित होता हैं। सातवाहन राज्य में प्राकृत भाषा का ही प्रभाव था। ये राजा स्वयं विद्वान या विशेष विद्यारसिक नहीं थे किन्तु विद्वानों का आदर करते थे। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा कातंत्र व्याकरण तथा एक अम्य जैनाचार्य काणभिक्षु या काणभूति द्वारा प्राकृत के मूल कथा ग्रंथ की रचना और इसके आधार पर 'गुणाढ्डयकृत' वृहत्कथा की रचना इसवीं प्रथम शताब्दी में इन्हीं राजा के प्रश्रय में हुई प्रतीत होती है। इनके राज्य में मुनियों का स्वच्छंद विहार था। उन्हीं के काल में जैनसंघ दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हुआ और उनका राज्य उन दोनों सम्प्रदायों के साधुओं का संधिस्थल था। दिगम्बर परम्परा के जैन आगमों का सर्वप्रथम संकलन एवं लिपिबद्धीकरण भी इन्हीं के काल में और सम्भवतया इन्हीं के राज्य में हुआ था।

-भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ. 89-90 डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

वृहत्कल्पभाष्य की एक अनुश्रुति के अनुसार उत्तरापथ मथुरा के 96 ग्रामो में लोग अपने घरों व द्वारों के ऊपर तथा चौराहों पर जिनमूर्तियों की स्थापना करते थे। शक एवं कुषाण काल में जैनधर्म का बड़ा ही व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ था। इसका भी समय लगभग प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

-भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ. 92 डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

प्रथम शताब्दी के भारतीय-जन तथा विदेशी जैनधर्म के भक्त थे। इसका उल्लेख मथुरा से प्राप्त शिलालेखों में मिलता है। उनकी स्त्रियां भी स्वतंत्रता

पूर्वक पुरूषों की भाति ही धर्म का पालन करती थीं, बल्कि दान देने और धर्मायतनो का निर्माण कराने मे उनसे भी आगे ही थी। इतना ही नहीं वे स्वेच्छा से साध्वी भी हो सकती थी। उस काल मे आर्यिकाओं का संगठन भी बहुत ही व्यवस्थित रहा प्रतीत होता है। प्रथम शताब्दी में ही जैन गुरूओ ने सर्वप्रथम सरस्वती आन्दोलन उठाया जिसका उद्‌देश्य परम्परागत जैनश्रुत का संकलन कराना और जैनो में लिखित साहित्य की रचना का प्रारम्भ कराना था।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय दर्शन डॉ राधाकृष्णन, 2. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा-डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वितीय खण्ड पृष्ठ 160, 3. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा-डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वितीय खण्ड पृष्ठ--, 4. आगम युग के प्रभावक आचार्य पृ 217 साध्वी पीयूष प्रभा 5 आगम युग के प्रभावक आचार्य पृ. 217 साध्वी पीयूष प्रभा, 6 तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री द्वितीय खण्ड पृष्ठ 46, 7 आगम युग के प्रभावक आचार्य पृ 216 साध्वी पीयूष प्रभा, 8 कसायपाहुडसुत्त गाथा 2, 9 तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वितीय खण्ड पृष्ठ 30-31

रजनीश शुक्ल
JRF
जैन विद्या एव प्राकृत विभाग
सुखड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर-313001

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण-नय मीमांसा

-डा. जयकुमार जैन

जैनो की गीता कहे जाने वाले तत्त्वार्थसूत्र की महत्ता एवं प्रतिष्ठा जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में कुछ पाठभेद एवं सूत्रभेद के साथ समान रूप से स्वीकृत है। पाठभेद एवं सूत्रभेद का प्रमुख कारण मुनि की नग्नता की स्वीकृति या अस्वीकृति है। इस ग्रन्थ में जैन तत्त्वज्ञान का सूत्रशैली में संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वज्ञान के उपाय के रूप में जैन न्याय के प्रमुख अङ्. प्रमाण और नय का भी वर्णन हुआ है। "प्रमाणनयैरधिगम:"[1] कहकर आचार्य उमास्वामी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पदार्थों का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है। जितना भी सम्यग्ज्ञान है, वह प्रमाण और नयो मे विभक्त है। इनके अतिरिक्त पदार्थो के ज्ञान का दूसरा कोई साधन नही है। न्यायदीपिकाकार अभिनय धर्मभूषण यति ने स्पष्ट रूप से लिखा है-"**प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादय: सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्याधिगमे प्रकारान्तरासंभवात्।**"[2] अर्थात् प्रमाण और नय से विवेचन किये गये जीव आदि समीचीन रूप से जाने जाते हैं। उनके अतिरिक्त जीवादि के ज्ञान में अन्य प्रकार सभव नही है।

प्रमाण और नय की न्याय संज्ञा

न्याय शब्द नि उपसर्ग पूर्वक 'इण्' गत्यर्थक धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। अभिनव धर्मभूषण यति ने न्याय का स्वरूप प्रमाण नयात्मक मानते हुए न्यायदीपिका नामक प्रकरण ग्रन्थ को प्रारंभ करने की प्रतिज्ञा की है-"**प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकारसम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते।**"[3] प्रमाण एवं नय को न्याय स्वीकारते हुए अन्यत्र भी कहा गया है-"नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्याय:, अर्थ परिच्छेदकोपाय:

न्याय इत्यर्थः। स च प्रमाणनयात्मक एव।"[4] अर्थात् निश्चय से जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं वह न्याय है और वह प्रमाण एवं नय रूप ही है। इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शन में प्रमाण एवं नय की ही न्याय संज्ञा है।

षट्खण्डागम में ज्ञानमार्गणा का वर्णन करते हुए ज्ञानमीमांसा में आठ ज्ञानो का वर्णन किया गया है। वहाँ पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान तथा विपरीत मति, विपरीत श्रुत एवं विपरीत अवधि ज्ञानों को मिथ्याज्ञान कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र मे भी पाँच ज्ञान एवं तीन विपरीत ज्ञानों का पृथक्-पृथक् सूत्रों में वर्णन किया गया है-

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।"[5]
"मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।"[6]

न्याय शास्त्र में विषय की दृष्टि से ज्ञान की प्रमाणता एवं अप्रमाणता का निश्चय किया जाता है अर्थात् जो ज्ञान घट को घट रूप जानता है, वह प्रमाण ज्ञान है और जो ज्ञान वस्तु को उस वस्तु रूप नहीं जानता है वह अप्रमाण ज्ञान है। मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान वस्तु को वस्तु रूप भी जानते हैं तथा मिथ्यादृष्टि में होने पर ये वस्तु को अवस्तु/भिन्नवस्तु रूप भी जानते हैं अतः इन तीनों मे सम्यक्पना भी पाया जाता है और मिथ्यापना भी। तीन मिथ्याज्ञानों को भी ज्ञान में ग्रहण कर आठ ज्ञानों की निरुपणा उसी प्रकार कही गई है जैसे एक द्रोण गेहूँ में कुछ हिस्सा कूड़ा-करकट का होने पर भी उसे एक द्रोण गेहूँ ही कहा जाता है।

प्रमाण का लक्षण

जैन दर्शन में स्वपरप्रकाशक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना गया है। कषायपाहुड में 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'[7] कहकर पदार्थ के जानने के साधन को प्रमाण कहा गया है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि प्रमाण का कोई सीधा लक्षण नही किया है, किन्तु 5 सम्यग्ज्ञानों को दो प्रमाण रूप कहकर 'तत्प्रमाणे'[8] सूत्र में प्रमाण शब्द का उल्लेख किया है। आचार्य पूज्यपाद ने प्रमाण शब्द की निर्युक्ति करते हुए लिखा है-**"प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन**

प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।'[9] अर्थात् जो अच्छी तरह मान करता है/जानता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है/जाना जाता है अथवा प्रमिति/ज्ञान मात्र प्रमाण है। प्रमाण के इस लक्षण मे उन्होंने कर्ता, करण और भाव रूप तीन प्रकार से प्रमाण शब्द का निरुक्त्यर्थ किया है। आचार्य अकलंक देव ने इसका और स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्रमाण शब्द भाव, कर्ता और करण तीनों साधनों में निष्पन्न होता है। जब भाव की विवक्षा होती है तो प्रमा को प्रमाण कहते हैं। कर्ता की विवक्षा में प्रमातृत्व शक्ति को प्रमाण कहते हैं और करण की विवक्षा मे प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण की भेदविवक्षा करके साधन को प्रमाण कहते हैं।[10]

प्रमाणाभास

जो वास्तव मे प्रमाण तो न हो किन्तु प्रमाण जैसा प्रतीत हो उसे प्रमाणाभास कहते है। तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि प्रमाणाभास का कोई स्वरूप या विवेचन नही किया गया है, तथापि विपरीत मति, विपरीत श्रुत तथा विपरीत अवधि (विभंग अवधि) इन तीन को अप्रमाण रूप कहने से इन्हें प्रमाणाभास ही समझना चाहिए। जैसे कड़वी तुम्बी में रखने से दूध कड़वा हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के संसर्ग से मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान मे विपरीतता आ जाती है। जैसे रजादि को अलग कर देने पर सशोधित तुम्बी में रखा गया दूध कड़वा नही होता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन को दूर कर देने पर संशोधित इन विविध ज्ञानों में मिथ्यापना नही आता है।[11] तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में पूर्व पक्ष के रूप में उत्थापित शंका 'उसी को ज्ञान और उसी को अज्ञान कैसे कहा जा सकता है?' का समाधान करते हुए कहा गया है कि मिथ्यादर्शन परिग्रह के कारण इन ज्ञानों की विपरीत ग्राहकता है। इसी कारण ये अज्ञान हो जाते हैं।[12]

प्रमाणाभास की अनुमानतः सिद्धि

तत्त्वार्थसूत्र मे मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञान की विपरीतता को सिद्ध करने के लिए हेतु एवं उदाहरण प्रष्तुत करते हुए कहा गया है कि जैसे कोई उन्मत्त व्यक्ति विवेकहीन होने के कारण सत् एवं असत् में अन्तर नहीं कर पाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्यक्ति प्रमाणाभास/अप्रमाण/मिथ्याज्ञान के द्वारा सत्-असत्

का विवेक नही रख पाता है।[13]

उक्त सिद्धि में तत्त्वार्थसूत्रकार ने अनुमान के तीनों अवयवों - पक्ष, हेतु तथा उदाहरण को दो सूत्रो मे उपस्थित किया है तथा इस आधार पर मति आदि तीन ज्ञानों को विपरीत/प्रमाणाभास भी सिद्ध किया है। यथा-

(1) पक्ष (प्रतिज्ञा) - मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।

(2) हेतु - सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेः

(3) उदाहरण - उन्मत्तवत्।

यहाँ यह अवधेय है कि जहाँ न्याय दर्शन मे अनुमान प्रमाण के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एव निगमन इन पञ्चावयव वाक्यों को माना गया है, वहाँ जैन दर्शन मे अनुमान के लिए तीन अवयव ही अनिवार्य माने हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे अन्यत्र भी तीन अवयवों का ही वस्तु की अनुमानतः सिद्धि मे उपयोग किया गया है।[14]

प्रमाण के भेद

अश-अशी (धर्म-धर्मी) का भेद किये बिना वस्तु का ज्ञान प्रमाण कहा गया है। यह बात पाँचो ज्ञानो मे पाई जाती है। अतः पाँचों ही ज्ञान प्रमाण है किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के इन ज्ञानो को दो प्रमाण रूप कहकर आदि के दो मतिज्ञान एवं श्रुत ज्ञान को परोक्ष तथा शेष अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान एव केवलज्ञान को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है।[15] मति एवं श्रुत दो ज्ञानों को परोक्ष मानने का कारण यह है कि ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। शेष तीन ज्ञान इनकी सहायता के बिना आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होते है।

जैनेतर भारतीय दर्शनों में अक्ष का अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा शेष ज्ञानों को परोक्ष माना गया है। किन्तु इस लक्षण के अनुसार योगियो का ज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना ही होता है। उसे मानना तो जैनेतर दार्शनिकों को भी अभीष्ट नही है। अतएव अक्ष शब्द का आत्मा अर्थ मानकर तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा आत्मा

की योग्यता के बल से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय एवं मन के आधीन ज्ञान को परोक्ष कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। फिर भी राजवार्तिक मे आचार्य अकलंकदेव ने अवधि, मन:पर्यय एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर भी इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाले मति ज्ञान को जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है, वह लौकिक दृष्टि से कथन है, परमार्थत: नही।

कुछ दार्शनिक अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति एवं अभाव आदि को भी प्रमाण का भेद स्वीकार करते है। इस विषय में तत्त्वार्थाधिगमभाष्य का कथन अवधेय है-

'अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवाभावानपि च प्रमाणानि इति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति? अत्रोच्यते-सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थ सन्निकर्षनिमित्तत्वात्। किं चान्यत् अप्रमाणान्येव वा। कुत: मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद् विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानेमवेति वक्ष्यते।'

अर्थात् कोई अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभव, अभाव को भी प्रमाण मानते है- यह कैसे माना जाय? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि ये सभी प्रमाण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। क्योंकि ये इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का निमित्त पाकर ही उत्पन्न होने वाले हैं। अन्यथा ये प्रमाण ही नही है क्योंकि मिथ्या दर्शन के सहचारी होने से तथा विपरीत उपदेश देने वाले होने से इनकी अप्रमाणता है। मिथ्यादृष्टि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान अज्ञान ही होते हैं।

प्रमाण के अन्यभेद

तत्त्वार्थसूत्र के प्रमुख टीकाकार आचार्य पूज्यपाद ने **'तत्प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च'** कहकर प्रमाण के दो अन्य भेद किये है-स्वार्थ एवं परार्थ।[17] ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं तथा वचनात्मक प्रमाण को परार्थ प्रमाण कहते हैं।[18] आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि ज्ञान स्वाधिगम हेतु होता है जो प्रमाण और नय रूप होता है। वचन पराधिगम हेतु होता है। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुत के द्वारा जीवादि की प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूप से

जानी जाती है।[19]

स्वार्थ एवं परार्थ प्रमाण की संगति

आचार्य पूज्यपाद ने स्वार्थ एवं परार्थ प्रमाणों की तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा मान्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से संगति बैठाते हुए कहा है कि श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ प्रमाण भी है और परार्थ प्रमाण भी।[20] फलित यह है कि स्वार्थ तो पाँचों ही ज्ञान हैं, किन्तु परार्थ मात्र श्रुतज्ञान ही है। अन्य कोई भी ज्ञान परार्थ नही है। इस प्रकार स्वार्थ एवं परार्थ प्रमाणों का भी प्रत्यक्ष एव परोक्ष प्रमाणों में ही अन्तर्भाव है। उनकी पृथक् प्रमाणता स्वीकृत नही है।

अनुमान आदि प्रमाणों का पृथक् कथन न करने का कारण स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिककार ने 'अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात्'[21] वार्तिक लिखा है। इसके व्याख्यान में वे स्पष्ट करते हैं कि अनुमान आदि का स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षर श्रुत में तथा परप्रतिपत्ति काल में अक्षर श्रुत में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए इनका पृथक् उपदेश नही किया गया है। आलापपद्धति आदि में जो केवलज्ञान को निर्विकल्पक तथा शेष को सविकल्पक कहा गया है[22] वे भी प्रत्यक्ष एव परोक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भूत हैं। प्राचीन परम्परा तो पाँचों ज्ञानों को दो प्रमाण रूप मानने की ही है।

सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता

आचार्य यतिवृषभ ने 'णाणं होदि पमाणं'[23] कहकर स्पष्टतया ज्ञान को प्रमाण माना है। श्लोकवार्तिक में कहा गया है-

> **'मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः।**
> **यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।।'**[24]

अर्थात् क्योंकि सूत्र में सम्यक्त्व का अधिकार अध्याहृत है, इसलिए संशयादि से युक्त मिथ्याज्ञान प्रमाण नही है। जिस प्रकार से जहाँ पर अविसंवाद है, वहाँ पर उस प्रकार प्रमाणपना है।

यहाँ पर यह विशेष अवधेय है कि स्वविषय में भी मतिज्ञान एवं श्रतुज्ञान

एकदेश प्रमाण हैं, अवधि आदि तीन ज्ञान पूर्णतः प्रमाण हैं। केवलज्ञान तो सर्वत्र प्रमाण है। श्लोकवार्तिक में कहा भी गया है-

'स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितम्।
अवध्यादि तु कार्त्स्न्येन केवलं सर्वतस्त्रिषु॥'[25]

प्रामाण्यवाद

ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य विषयक विचार को दार्शनिक जगत् मे प्रामाण्यवाद कहा जाता है। ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ इस विचार को न्याय में प्रामाण्यग्रह कहते हैं। प्रामाण्य स्वतः है अर्थात् ज्ञान ग्राहक सामग्री एव प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक है अथवा प्रामाण्य परतः है अर्थात् ज्ञान ग्राहक सामग्री पृथक् है और प्रामाण्यग्राहक सामग्री पृथक् है, प्रमुखतया प्रामाण्यवाद का विवेच्य है।

सांख्य दार्शनिकों का विचार है कि ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य स्वतः होते हैं[26] अर्थात् जिस प्रमाण के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रमाण के द्वारा उस ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रमाणिकता का भी निर्णय हो जाता है। मीमांसकों के अनुसार प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है।[27] वेदान्त दर्शन की भी यही मान्यता है। कुछ बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानते हैं[28] जबकि कुछ प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को किञ्चित् स्वतः एवं किञ्चित् परतः स्वीकार करते है।[29] न्याय-वैशेषिक दार्शनिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो को परतः मानते हैं।[30]

जैन दार्शनिको का कहना है कि उत्पत्ति की दशा में ज्ञान का प्रामाण्य एव अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं तथा ज्ञप्ति की दशा मे दोनों ही परतः होते हैं।[31] यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस विषय में कोई उल्लेख नही किया है, किन्तु श्लोकवार्तिककार ने स्पष्टतया लिखा है-

'अत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः।
अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः----------॥'[32]

अर्थात् अभ्यास दशा मे ज्ञान स्वरूप का निर्णय करते समय ही युगपत्

उसके प्रमाणपने का भी निर्णय कर लिया जाता है, परन्तु अनभ्यासदशा मे तो दूसरे कारणों से ही प्रमाणपना जाना जाता है। अभिप्राय यह है कि अभ्यासदशा में प्रमाण स्वतः और अनभ्यासदशा में प्रमाण परतः होता है। अप्रमाण के विषय में भी यही स्थिति है।

प्रमाण-प्रमेय आदि में कथञ्चित् भेदाभेदपना

आचार्य पूज्यपाद ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तो फल किसे मानेंगे? फल का तो अभाव ही हो जायेगा। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि यह कोई दोष नही है। क्योंकि पदार्थ के ज्ञान हो जाने पर प्रीति देखी जाती है। यही प्रमाण का फल कहा जाता है। अथवा अपेक्षा या अज्ञान का नाश प्रमाण का फल है।[33] जो लोग सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है वे पदार्थ के ज्ञान को फल मान लेते है, किन्तु पूज्यपाद का कहना है, कि यदि सन्निकर्ष को प्रमाण माना जायेगा तो सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थो का ग्रहण नही हो सकेगा और इस प्रकार सर्वज्ञता का भी अभाव सिद्ध होगा। इन्द्रियो को प्रमाण मानने पर भी यही दोष उपस्थित होता है। चक्षु एव मन के अप्राप्यकारी होने से इन्द्रिय और सन्निकर्ष भी नही बन सकता है। सन्निकर्ष को प्रमाण और पदार्थ के ज्ञान को फल मानते है तो सन्निकर्ष दो में रहने वाला सिद्ध होगा और इस प्रकार तो घट पटादि पदार्थो के भी ज्ञान की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।[34] अतएव सन्निकर्ष को प्रमाण नही माना जा सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रमाण और प्रमेय सर्वथा भिन्न नही हैं। जिस प्रकार घटादि पदार्थो को प्रकाशित करने में दीपक हेतु है और अपने को प्रकाशित करने में भी वही हेतु है। इसके लिए प्रकाशान्तर की आवश्यकता नही होती है। उसी प्रकार प्रमाण भी है। अतः प्रमेय के समान प्रमाण के लिए यदि अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्व का ज्ञान नही होने से स्मृति का अभाव हो जायेगा। स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार के लोप का प्रसग उपस्थित हो जावेगा। अतः स्पष्ट है कि प्रमाण और प्रमेय सर्वथा भिन्न नही है। परन्तु दोनों में कथञ्चित् भिन्नपना भी है। जिस प्रकार बाह्य प्रमेयों से प्रमाण (घट से दीपक की तरह) भिन्न होता है उसी प्रकार

प्रमेय से प्रमाण मे कथञ्चित् भिन्नता भी है। क्योंकि प्रमाण तो प्रमाण भी है और प्रमेय भी, जबकि प्रमेय केवल प्रमेय है।

नय का लक्षण

परस्पर विरुद्ध पक्षो वाली अनेक रूपात्मक वस्तु को किसी एक पक्ष से देखने वाली ज्ञाता की दृष्टि का नाम नय है। जब-जब वस्तु में धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है तब तब वह ज्ञान नयज्ञान कहलाता है। इसी कारण नयो को श्रुतज्ञान का भेद कहा गया है। यद्यपि प्रमाण और नय दोनो से पदार्थो का ज्ञान होता है, तथापि इतनी विशेषता अवश्य है कि प्रमाण सकलादेशी है जबकि नय विकलादेशी है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है **'सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।'**[35]

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य मे नय का निरुक्त्यर्थ करते हुए कहा गया है-**'जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निवर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयः।'**[36] अर्थात् जो जीवादि पदार्थो को लाते है, प्राप्त कराते है, बनाते है, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते है, प्रकट कराते है, वे नय है। तिलोयपण्णत्ती, आलापपद्धति, प्रमेयकमल मार्तण्ड आदि ग्रन्थो मे ज्ञाता, प्रमाता अथवा वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है।[37] आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि अनेकान्तात्मक वस्तु मे विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते है।[38] श्लोकवार्तिक मे अपने को और पदार्थ को एक देश रूप से जानना नय का लक्षण माना गया है।[39] आचार्य अकलकदेव ने प्रमाण के द्वारा सगृहीत वस्तु के अर्थ के एक अश को नय माना है।[40] आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि वस्तु को प्रमाण से जानकर बाद में किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है।[41] श्लोकवार्तिककार के अनुमान श्रुतज्ञान को मूल कारण मानकर ही नयज्ञानों की सिद्धि मानी गई है।[42]

नय के भेद

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने सात नयो का उल्लेख किया है- नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवभूत।[43]

मूल नयों की संख्या के विषय में पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने लिखा है कि "षट्खण्डागम में नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि कषायपाहुड में ये ही पाँच भेद निर्दिष्ट हैं तथापि वहाँ नैगम के संग्रहिक और असंग्रहिक ये दो भेद तथा तीन शब्द नय बतलाये हैं। श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्य और भाष्यमान्य सूत्रों की परम्परा कषायपाहुड की परम्परा का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती है। उसमें भी मूल नय पाँच माने गये हैं और नैगम के दो तथा शब्द नय के तीन भेद किये गये हैं। तत्त्वार्थभाष्य में जो नैगम के देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ये दो भेद किये है तो वे कषायपाहुड में किये गये नैगम के संग्रहिक और असंग्रहिक इन दो भेदो के अनुरूप ही हैं। सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को नही मानते, शेष छः नयों को मानते हैं। इसके सिवा सब दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों मे स्पष्टतः सूत्रोक्त सात नयों का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार विवक्षाभेद से यद्यपि नयो की संख्या के विषय में अनेक परम्पराएँ मिलती हैं, तथापि वे परस्पर एक दूसरे की पूरक ही हैं।"[44]

उक्त सातों नय दो नय रूप

नैगम आदि सातो नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागों मे विभक्त हैं। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है-'स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति।'[45] धवला मे भी कहा गया है कि तीर्थकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्याता द्रव्यार्थिक नय है तथा उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों ही नयों के विकल्प या भेद हैं।[46] भास्करनन्दि ने कहा है कि ये नैगमादि सातो नय ही दो नय रूप होते हें। क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु के अश से द्रव्य और पर्याय जिसके द्वारा प्राप्त किये जाते है वे नय हैं, इस तरह व्युत्पत्ति है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे ये दो नय हैं। द्रव्य, सामान्य, अभेद, उत्सर्ग और अन्वय ये शब्द एकार्थवाची हैं। द्रव्य है प्रयोजन जिसका उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्य विषय वाला द्रव्यार्थ नय है। पर्याय, विशेष, भेद, अपवाद, व्यतिरेक ये शब्द एकार्थवाची हैं। पर्याय है प्रयोजन जिसका उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। अथवा पर्याय विषय वाला पर्यायार्थनय है। द्रव्य के अस्तिव को स्वीकार करे वह द्रव्य है। इस प्रकार की बुद्धि है जिसकी वह नय द्रव्यास्तिक है। पर्याय के अस्तित्व को स्वीकार करे वह पर्याय है। इस

प्रकार की बुद्धि है जिसकी वह पर्यायास्तिक है।

उक्त नैगमादि सात नयों में नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय के भेद है तथा ऋजुसूत्र आदि शेष चार पर्यायार्थिक नय के भेद हैं।[47] नैगम नय यद्यपि द्रव्य और पर्याय दोनों को मुख्य-गौण भाव से ग्रहण करता है फिर भी वह इनको उपचार से ग्रहण करता है, अतः वह द्रव्यार्थिक नय का भेद है। संग्रह नय तो द्रव्यार्थिक है ही। व्यवहार नय के विषय में ऊर्ध्वता सामान्य से भेद नही किया जाता है, इसलिए इसे भी द्रव्यार्थिक नय ही माना जाता है। आगे के चार नय पर्यायार्थिक है। ऋजुसूत्र नय तो पर्याय विशेष को ग्रहण करता ही है, शेष तीन भी पर्याय को ही विषय बनाते हैं। अतः इन्हे पर्यायार्थिक माना गया है।

उक्त सभी नय यद्यपि अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करते हैं किन्तु मुख्य-गौण भाव से परस्पर सापेक्ष रहते हैं।

सातों नयों का संक्षिप्त स्वरूप

श्री श्रुतसागर सूरि के अनुसार नैगमादि सातो नयो को स्वरूप इस प्रकार है-

(1) **नैगम**- जो एक द्रव्य या पर्याय को ग्रहण नही करता इस विकल्प रूप हो वह निगम है और निगम का भाव नैगम है। सकल्प मात्र ग्राही नैगम नय कहलाता है।

(2) **संग्रह**- अभेद रूप वस्तु के ग्रहण करने को सग्रह नय कहते है।

(3) **व्यवहार**- सग्रह नय से गृहीत अर्थ को भेद रूप से ग्रहण करना व्यवहार नय है।

(4) **ऋजुसूत्र**- ऋजु का अर्थ सरल है। जो ऋजु अर्थात् सरल को सूचित करता है अर्थात् स्वीकार करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

(5) **शब्द**- शब्द से, व्याकरण से, प्रकृति प्रत्यय द्वार से सिद्ध, शब्द नय है।

(6) **समाभिरूढ**- परस्पर अभिरूढ समाभिरूढ नय है।

(7) **एवंभूत**- क्रिया की प्रधानता से कहा जाय, वह एवंभूत नय है।[48]

भात पकाने के तैयारी करने वाले को भात पकाने वाला कहना, द्रव्य कहने से सभी जीव-अजीव द्रव्यों का ग्रहण करना, द्रव्य के छः भेद करना, वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करना, दार-भार्या-कलत्र एकार्थक होन पर भी लिग भेद से भिन्न मान इन्द्र-शक-पुरन्दर में भिन्नार्थकता होने पर भी रूढि से एक अर्थ का ग्रहण्र करना तथा जब जो जिस अवस्था में हो उसे तब वैसा ही कहना उक्त सातों नयों के क्रमशः उदाहरण है। ये सातों नय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय वाले है तथा इनमें पूर्व-पूर्व नय की उत्तर-उत्तर नय के प्रति कारणता है। अतः इनके क्रम को इसी प्रकार कहा जाना सहेतुक है।

नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ही होते हैं, गुणार्थिक नहीं

आचार्य अकलकदेव ने कहा है कि द्रव्य के सामान्य और विशेष ये दो ही स्वरूप है। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थक शब्द है। विशेष, भेद और पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। सामान्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय। दोनो से समुदित अयुतसिद्ध रूप द्रव्य है। अतः जब गुण को द्रव्य का ही सामान्य रूप माना गया है तब उसके ग्रहण करने के लिए द्रव्यार्थिक नय से भिन्न गुणार्थिक नय मानने की कोई आवश्यकता नही है। क्योंकि नय विकलादेशी है और समुदाय रूप द्रव्य सकलादेशी है। अतः समुदाय रूप द्रव्य तो प्रमाण का विषय है, नय का नही।[49] आचार्य अकलंक देव ने 'तदुभयसग्रहः प्रमाणम्'[50] कहकर यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयो का सग्रह प्रमाण है।

नयाभास

परस्पर सापेक्ष नय ही सम्यक् होते हैं, निरपेक्ष नहीं। जिस प्रकार परस्पर सापेक्ष रहकर ही तन्तु आदि पट रूप कार्य का उत्पादन करते है, उसी प्रकार नय भी सापेक्ष रहकर ही सम्यग्ज्ञान रूप कार्य के कारण बनते है। निरपेक्ष नयो को ही मिथ्यानय, कुनय या नयाभास समझना चाहिए।

यहाँ यह विशेष अवधेय है कि जिस प्रकार शक्ति की अपेक्षा निरपेक्ष तन्तु वेमा आदि मे पट का कारणपना कथचित् माना जाता है, उसी प्रकार निरपेक्ष नयों मे भी शक्ति की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान का कारणपना माना जा सकता है। इसी बात को सर्वार्थसिद्धि मे निम्नलिखित शब्दो में स्वीकार किया गया है-

'अथ तत्त्वादिषु पटादिकार्य शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु वद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात् सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्रत्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य।'[51]

क्या नय सात ही हैं?

नयों का विवेचन कही शब्द, अर्थ एव ज्ञान रूप मे त्रिविध हुआ तो कही पञ्चविध, सप्तविध या नवविध भी। वस्तुत: जितने भी वचनमार्ग है, उतने ही नय के भेद हैं। द्रव्य की अनन्त शक्तियॉ है। अत: उनके कथन करने वाले अनन्त नय हो सकते है। श्लोकवार्तिक के अनुसार सक्षेप मे नय दो-द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक, विस्तार से तत्त्वार्थसूत्र मे प्रतिपादित नैगमादि सात तथा अतिविस्तार से सख्यात विग्रह वाले होते है।

निरपेक्ष नय ग्रहण से उत्पन्न भ्रान्तियाँ और उनके तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी टीकाओं में प्रदत्त समाधान

भ्रान्ति 1. शुभप्रवृत्ति, परिणाम एवं उपयोग मे आस्रव और बन्ध ही होता है।

समाधान- व्रत प्रवृत्ति रूप भी होते है तथा निवृत्ति रूप भी होते है। अहिसा आदि व्रतो को एकदेश प्रवृत्ति रूप होने की वजह से आचार्य उमास्वामी ने जहाँ उन्हें आस्रव के कारणों मे रखा है, वहीं सयम, ब्रह्मचर्य एवं तप को दस धर्मो मे ग्रहण कर उन्हे सवर का कारण भी माना है तथा तप को तो निर्जरा का हेतु भी कहा है।

भ्रान्ति 2. निमित्त कुछ नही करता है तथा निमित्त के अभाव मे भी कार्योत्पत्ति हो सकती है। निमित्त तो स्वत: मिल जाता है।

समाधान- कर्मो का फलदान द्रव्य, क्षेत्रादि के निमित्त होने पर ही होता है, उसके बिना नही होता है। यदि किसी कर्म का उदयकाल हो तो

उसका उदय तो होगा पर वह निमित्त अभाव में स्वमुख से उदय न होकर परमुख से उदय हो जाता है। प. फूलचन्द्र शास्त्री ने सर्वार्थसिद्धि के विशेषार्थ में स्वयं लिखा है कि 'हास्य और रति का उत्कृष्ट उदयकाल सामान्यतः छः माह है। इसके बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोक की उदय-उदीरणा होने लगती है। किन्तु छह माह के भीतर यदि हास्य और रति के विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीच में ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है।''[55] इसी प्रकार स्वर्ग मे सातानिमित्तक सामग्री होने से असाता उदयकाल मे साता रूप में परिणत हो जाती है तथा नरक मे असातानिमित्तक सामग्री होने से साता उदयकाल मे असाता रूप में परिणत हो जाती है।

पूज्यवाद स्वामी ने लिखा है **'द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः।'**[56]

'को भवः? आयुर्नामकर्मोदयनिमित्तः आत्मनः पर्यायो भवः। प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्।'[57]

भ्रान्ति 3. निमित्त को कारण मानने से द्रव्य की स्वतन्त्रता मे बाधा होती है।

समाधान- उक्त प्रश्न के उत्तर मे आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि धर्मादि द्रव्यो के निमित्त से ही जीव एव पुद्गल की गति-स्थिति संभव होती है। क्या ऐसा मानने से जीव अपने मोक्ष पुरुषार्थ मे असमर्थ हो जाता है? यदि नहीं, तो निश्चित है कि कार्योत्पत्ति मे परद्रव्य के निमित्त मात्र होने से वस्तु स्वातन्त्रय मे कोई बाधा नही आती है।[58]

इसी प्रकार की अन्य अनेक भ्रान्तियाँ भी निरपेक्ष नयो को ग्रहण करने से उत्पन्न हुई है। अतः नयों मे सापेक्षता आवश्यक है।

सन्दर्भ :

(1) तत्त्वार्थसूत्र, 1/6, (2) न्यायदीपिका, पृ. 4, (3) वही, पृष्ठ 5, (4) वही, पृष्ठ 5 पर टिप्पणी, (5) तत्त्वार्थसूत्र, 1/9, (6) वही, 1/31, (7) कषायपाहुड, पुस्तक 1 भाग 1 प्रकरण 1/27 पृष्ठ 37, (8) तत्त्वार्थसूत्र 1/10, (9) सर्वार्थसिद्धि 1/10 पृष्ठ 98,

(10) तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) 1/10 पृष्ठ 49,

(11) तत्त्वार्थवृत्ति - श्रुतसागरसूरि सूत्र 1/31 की वृत्ति

तत्त्वार्थवृत्ति - भास्करनन्दि सूत्र 1/31 की वृत्ति

(12) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र 1/32 (मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च) का भाष्य

(13) सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्। तत्त्वार्थसूत्र 1/32

(14) द्रष्टव्य - (क) मुक्त जीव की ऊर्ध्वगमन सिद्धि

पक्ष (प्रतिज्ञा) - तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।

हेतु - पूर्वप्रयोगादसगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।

उदाहरण - आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगलेपा लाम्बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।

(ख) जीवो की सम्पूर्ण लोकाकाश तक मे अवगाह की सिद्धि

पक्ष (प्रतिज्ञा) - असख्येयभागादिषु जीवानाम्।

हेतु प्रदीपसहारविसर्पाभ्याम्

उदाहरण - प्रदीपवत्। -तत्त्वार्थसूत्र 5/15-16

(15) तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। -तत्त्वार्थसूत्र 1/10-12

(16) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 1/2 पृष्ठ 35, (17) सर्वार्थसिद्धि, 1/16 पृष्ठ 20, (18) वही

(19) तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) 1/16 पृष्ठ 33, (20) 'तत्र स्वार्थ प्रमाण श्रुतवर्ज्यम्। श्रुत पुन: स्वार्थ भवति परार्थ च।' -सर्वार्थसिद्धि 1/6 पृष्ठ 20, (21) तत्त्वार्थवार्तिक 1/20/15 पृष्ठ 78

(22) आलापपद्धति, 9, (23) तिलोयपण्णत्ती 1/83, (24) श्लोकवार्तिक 3/1, 10/38

(25) वही, 3/1, 10/39, (26) प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: साख्या: समाश्रिता:। -सर्वदर्शनसंग्रह, साख्य प्रकरण, (27) न्यायमञ्जरी भाग 1 पृष्ठ 160-174, (28) द्रष्टव्य - सर्वदर्शनसग्रह, बौद्ध प्रकरण, (29) तत्वसग्रह, कारिका 3/23, (30) न्यायमञ्जरी, पृष्ठ 160-174,

(31) प्रमाणमीमासा 1/1/8, (32) श्लोकवार्तिक 3/1/10/126-127

(33) सर्वार्थसिद्धि 1/10 पृष्ठ 97, (34) वही 1/10 पृष्ठ 97 तथा तत्त्वार्थवार्तिक 1/10/16-22

(35) सर्वार्थसिद्धि 1/6 पृष्ठ 20, (36) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 1/35

(37) 'णयो वि णादुस्स हिदिय भावत्थो।' - तिलोयपण्णत्ती 1/83

'ज्ञातुरभिप्रायो वा नय:।' - आलापपद्धति 9

'ज्ञातुरभिप्रायो नय:। - प्रमेय कमलमार्तण्ड पृष्ठ 676

(38) 'वस्तुन्यनेकान्तात्मयविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवण: प्रयोगो नय:।' -सर्वार्थसिद्धि 1/33 पृ. 140

(39) 'स्वार्थैकदेशानिर्णीतिलक्षणो हि नय: स्मृत:।' -श्लोकवार्तिक 2/1, 6/17

(40) तत्त्वार्थवार्तिक 1/33/1 पृष्ठ 94, (41) सर्वार्थसिद्धि 1/6 पृष्ठ 20

(42) 'श्रुतमूला नया: सिद्धा:।' -श्लोकवार्तिक 2/1, 6/27

(43) 'नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवभूता नया:। -तत्त्वार्थसूत्र 1/33

(44) तत्त्वार्थसूत्र 1/33 की हिन्दी व्याख्या

(45) सर्वार्थसिद्धि 1/33 पृ 140

(46) धवला पुस्तक खण्ड 1/भाग 1/सूत्र 1/पृष्ठ 1/गाथा 5

(47) तत्त्वार्थवृत्ति - भास्करनन्दि 1/33 पृ 59

(48) तत्त्वार्थवृत्ति - श्रुतसागरसूरि 1/33 पृ 165

(49) तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) 5/38/3

(50) वही, 1/7/5

(51) सर्वार्थसिद्धि 1/33 पृष्ठ 146

(52) श्लोकवार्तिक 4/1/13 श्लोक 3-4 पृष्ठ 215

(53) आस्रवनिरोध सवर:। स गुप्ति समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै:। तपसा निर्जरा च। -तत्त्वार्थसूत्र 9/1 3

(54) सर्वार्थसिद्धि 8/21

(55) वही 9/36 का विशेषार्थ

(56) वही 2/1

(57) वही 1/21

(58) तत्त्वार्थवार्तिक 5/1

रीडर एवं अध्यक्ष-सस्कृत विभाग
एस. डी. (पी. जी.) कॉलेज, मुजफ्फरनगर

अहिंसा क्या हैं?

अहिंसा कोई पथ या सम्प्रदाय नही है। अहिंसा एक दृष्टि है। अहिंसा वह धर्म है जो धारण करता है, जो निर्माण और सृजन करता हैं, जो सात्त्विक सुरक्षा देता है, अभय देता है, मैत्री और क्षमा देता है। अहिसा हिंसा के अभाव से कही अधिक गहरी और समुन्नत एक अवधारणा है, जो सम्यक, दर्शन, ज्ञान और चरित्र को जगत् से एव जीवमात्र से जोड़ता है। अनेकांत की सहिष्णुता है, मनुष्यता का सविधान है।

-लक्ष्मीमल सिधवी

क्या 'चन्द्रोदय' और 'न्यायकुमुदचन्द्र' का रचयिता एक है?

-डॉ. कमलेशकुमार जैन, दिल्ली

भारतीय विशेषकर जैन साहित्य के इतिहास में, एक ही नाम के कई व्यक्तियो की एक लम्बी परम्परा है। इन समान नाम वाले साहित्यकारों/लेखको का स्वतत्ररूप से कोई विशेष परिचय भी नहीं मिलता और जो कुछ परिचय प्राप्त होता है, वह इतना कम है कि उसके आधार पर उनकी समानता/असमानता का निर्णय करना भी कठिन है।

प्राचीन काल से लेकर प्राय: मध्यकाल के प्रारभ तक भारतीय साहित्य और परम्परा मे सामान्यत: यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि अमुक आचार्य या लेखक रचना करते समय अपना, अपने वंश का या गुरु-परम्परा आदि का परचिय नही देता। इसमे सभवत: आत्म-श्लाघा से बचना और **'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च...'** आदि भावना ही प्रमुख कारण रही है।

इसी तरह का एक नाम 'प्रभाचन्द्र' का है। जैन साहित्य और पुरातत्त्व के अनुसार प्रभाचन्द्र नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। इनके विषय में स्वतत्र रूप से विशेष परिचय न मिलने से व्यक्ति-भेद और काल-भेद होने पर भी उनके विषय मे संशय उत्पन्न हो जाते हैं-

(1) हरिवंशपुराण (रचना ई. 783) में जिनसेन ने किसी प्रभाचन्द्र नामक विद्वान् का स्मरण किया है जो कुमारसेन के शिष्य थे। हरिवंश का अविकल पद्य इस प्रकार है-

आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरो: कुमारसेनस्य विचख्यजितात्मकम्॥ प्रथम सर्ग, श्लोक 38

इस श्लोक के 'प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्' पद में चन्द्रोदय शब्द आया है।

यद्यपि यहाँ पर इस शब्द का अर्थ अलग है परन्तु यह चन्द्रोदय शब्द प्रभाचन्द्रकृत उस चन्द्रोदय नामक रचना का स्मरण कराता है, जिसका उल्लेख आदिपुराण में जिनसेन ने किया है।

(2) आदिपुराण (रचना ई. 838) के प्रारम्भ में पूर्वाचार्यो को स्मरण करते समय आचार्य जिनसेन ने भी प्रभाचन्द्र नाम के एक कवि आचार्य के प्रति बहुमान प्रकट किया है। वे कहते हैं -

चंद्राशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥
चन्द्रोदयकृतस्तस्य यशः केन न शस्यते
यदाकल्पमनाम्लानि सतां शेखरतां गतम्॥ प्रथम पर्व, श्लोक 47-48

अर्थात् चन्द्रमा की किरणो के समान श्वेत यश के धारक प्रभाचन्द्र कवि का स्तवन करता हूँ, जिन्होंने चन्द्रोदय की रचना करके संसार को आह्लादित (प्रसन्न) किया है। वास्तव में चन्द्रोदय की रचना करने वाले उन प्रभाचन्द्र आचार्य के कल्पान्त काल तक स्थिर रहने वाले तथा सज्जनो के मुकुटभूत यश की प्रशंसा कौन नही करता? अर्थात सभी करते हैं।

उक्त स्मरण पद्य मे उल्लिखित कविकर्म रूप चन्द्रोदय प्रभाचन्द्र की यशस्वी रचना बतायी गयी है। इस रचना का जिनसेन की दृष्टि में इतना अधिक महत्त्व रहा है कि उसकी प्रशंसादि के विषय में दो पद्य (47-48) लिखे गये हैं। इन चन्द्रोदय नाम के कारण हरिवंशपुराण में स्मृत चन्द्रोदय (प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वल) नामक कृति की ओर बलात् ध्यान चला जाता है।

(3) जैन साहित्य में एक प्रभाचन्द्र (ई. 950-1020) प्रथित तर्क ग्रन्थकार हैं। इनकी **न्यायकुमुदचन्द्र** तथा **प्रमेयकमलमार्तण्ड** आदि तार्किक कृतियाँ प्रसिद्ध एवं उपलब्ध हैं। इनके गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पांचवे परिच्छेद का प्रारंभ) में अनन्तवीर्य (ई. नवी शती) का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण किया है और उनकी युक्तियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण बतलायीं हैं। उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड मे विद्यानन्द का भी स्मरण किया है। यथा -

विद्यानन्द-समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्।

(4) न्यायकुमुदचन्द्र की प्रशास्ति मे स्वय प्रभाचन्द्र ने लिखा है-

भव्याम्भोजदिवाकरो गुणनिधियोऽभूज्जगद्भूषणः।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधि श्रीपद्मनन्दिप्रभुः॥

(5) श्रवणवेलगोला के शिलालेख संख्या (64) मे अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य रूप में किसी प्रभाचन्द्र का उल्लेख है जो कुलभूषण नामक विद्वान् के गुरुभाई (सधर्मा) बताये गये है-

अविद्धकर्ण्यादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः॥15॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारान्निधिः
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेपस्तत्सधर्म्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्री कुण्डकुण्डान्वयः ॥16॥

जैन शिलालेखसग्रहः, पृष्ठ 26/2

(6) शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके के 46वी संख्या के शिलालेख मे एक पद्य निम्नप्रकार पाया जाता है-

सुखि...न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे॥

इस पद्य में दो बातें प्रमुख हैं। एक तो ग्रन्थ का नाम **न्यायकुमुदचन्द्रोदय** दिया है और उसके कर्ता को नमन किया गया है। दूसरे इसी **न्यायकुमुदचन्द्रोदय** के कर्ता को **शाकटायनसूत्रन्यास** का रचयिता बताया गया है।

भ्रान्ति के कारण उपर्युक्त चन्द्रोदय, **न्यायकुमुदचन्द्रोदय न्यायकुमुदचन्द्र प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वल** आदि नाम और पद है जिन्हें एक ही ग्रन्थ के विभिन्न नामान्तर मान लिया जाता है। यहाँ तक कि न्यायकुमुदचन्द्र का नाम **न्यायकुमुदचन्द्रोदय** भी चल पड़ता है। वस्तुतः **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के रचयिता प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ का वास्तविक नाम **न्यायकुमुदचन्द्र** ही है, **चन्द्रोदय** नही।

अतः **हरिवंशपुराण** मे कुमारसेन के शिष्य के रूप में स्मरण किये गये प्रभाचन्द्र **न्यायकुमुदचन्द्र** के कर्ता प्रभाचंद से भिन्न कोई पृथक् व्यक्ति हैं। इसी प्रकार **आदिपुराण** मे **चन्द्रोदय** के कर्त्ता के रूप में स्मृत प्रभाचन्द्र भी, **न्यायकुमुदचन्द्र** के कर्ता प्रभाचन्द्र से अलग व्यक्ति हैं। बहुत सभव है कि **हरिवंशपुराण** और **आदिपुराण** में उल्लिखित प्रभाचन्द्र और उनका चन्द्रोदय एक ही व्यक्ति एव एक ही रचना हो और उन दोनों के गुरु भी एक ही कुमारसेन हो। उक्त तथ्यो को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है-

(क) न्यायकुमुदचन्द आदि ग्रन्थों के रचयिता प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम पद्मनंदि सैद्धान्तिक था, जबकि चन्द्रोदय के कर्ता के रूप मे आदिपुराण में स्मृत प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम कुमारसेन बताया गया है।

(ख) हरिवंशपुराण (रचना ई. 783) के कर्ता जिनसेन और आदिपुराण (रचना ई. 838) के कर्ता जिनसेन दोनो समकालीन थे। हरिवशपुराण मे 'प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वल' इस श्लेषपद से चन्द्रोदय नामक रचना का सकेत किया गया है। यदि वह किसी रचना का ही नाम है तो यह चन्द्रोदय प्रभाचन्द्र के उस चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ का स्मरण कराता है, जिसका उल्लेख आदिपुराणकार ने किया है।

(ग) जैसा ऊपर सकेत किया गया है कि न्यायकुमुदचन्द्र में अनन्तवीर्य (ई. नवी शती) का दाय स्वीकार किया है। यदि आदिपुराण में उल्लिखित प्रभाचन्द्र और उनकी रचना चन्द्रोदय ही प्रकृत प्रभाचन्द्र और उनकी कृति न्यायकुमुदचन्द्र है, तो यह संगत प्रतीत नहीं होता कि आदिपुराणकार न्यायकुमुदचन्द्र का तो उल्लेख करें और न्यायकुमुदचन्द्र में ही जिनके प्रति बहुमान प्रकट किया गया हो ऐसे अनन्तवीर्य सरीखे यशस्वी ग्रन्थकार को भूल जायें।

(घ) प्रभाचन्द्र ने अपने न्यायकुमुदचन्द्र में जयन्तभट्ट (ई. नवी शती का उत्तरार्ध) की न्यायमंजरी का एक श्लोक उद्धृत किया है। उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र दोनों में जयन्तभट्ट के

कारणसाकल्यवाद का खण्डन भी किया है।

(ड.) न्यायकुमुदचन्द्र मे जिनसेन (आदिपुराण के कर्ता) के शिष्य गुणभद्रकृत आत्मानुशासन का 'अन्धादय महानन्धो... (श्लोक 350) उद्धृत किया गया है। आत्मानुशासन गुणभद्र की प्रौढ़कालीन रचना मानी जाती है। गुणभद्र ने ईसवी 898 मे, अर्थात् आदिपुराण की रचना के 60 वर्ष बाद, उत्तरपुराण पूर्ण किया था। अत: यह सभव नही हो सकता कि ईसवी 9 शती के अन्त मे या दशवी के प्रारंभ मे रचे गये ग्रन्थ का श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र मे आ जाये।

उपर्युक्त कारणों से ईसवीय 783 मे लिखे गये हरिवंशपुराण में या ईसवीय 838 मे रचे गये आदिपुराण मे न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र (ई. 950-1020) का स्मरण कैसे किया जा सकता है? अर्थात् नही किया जा सकता। अतएव ध्यातव्य है कि हरिवंशपुराण या आदिपुराण मे जिस चन्द्रोदय नामक रचना या जिस प्रभाचन्द्र नामक कवि का स्मरण किया गया है। वे वर्तमान में उपलब्ध एव प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र एव प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि के रचयिता प्रभाचन्द्र नही है, अपितु उनके नामराशि कोई दूसरे ही ग्रन्थकार है, जिनकी चन्द्रोदय नामक कोई प्रसिद्ध एव महत्त्वपूर्ण रचना थी जो अभी तक अप्राप्त है।

- बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डॉलोजी
जी.टी. करनाल रोड,
दिल्ली - 110 036

जैन रहस्यवाद

-डॉ. श्रीमती सूरजमुखी जैन

'रहस्यवाद' शब्द रहस्य और वाद इन दो शब्दों के संयोग से निष्पन्न हुआ है। 'रहस्य' शब्द से यत् प्रत्यय करने पर 'रहसि भवं रहस्यम्' की सिद्धि होती है। 'रह्' धातु त्याग अर्थ मे प्रयुक्त होती है। अत: रहस्य का अर्थ है अन्य प्रमेयों का त्याग। प्रमेयान्तरों के त्याग द्वारा विषयासंपृक्त मनोभूमि मे होने वाली प्रतीति अथवा प्रतीयमान सत्ता ही 'रहस्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। 'वाद' शब्द 'वद्' धातु से धञ् प्रत्यय करने पर बनता है। 'उच्यतेऽनेनेति वाद:' अर्थात् जिसके द्वारा कुछ कहा जाय, वह वाद है। अत: व्युत्पत्ति के अनुसार 'रहस्यवाद' वह वाद है जिसमे उन वातो का कथन हो, जिन्हे सब लोग नही जानते है।

'रहस्यवाद' एक विशेष प्रकार की काव्यधारा है जिसमें रचयिता या कवि जीवन और जगत के व्यक्त क्षेत्र से हटकर उसके अव्यक्त पक्ष का उद्घाटन करता है और दृश्य जगत के विविध नामरूपो मे व्याप्त अगोचर तत्त्व की भावात्मक प्रणालियों द्वारा अभिव्यक्ति करता है। रहस्यवादी काव्य की प्रमुख विशेषता भाव के द्वारा किसी परोक्ष सत्ता का आभास उसके प्रति राग विस्मय, जिज्ञासा, लालसा, असीम वेदना एवं तादात्म्य की अनुभूति है। यह अनुभूति दिव्यानुभूति है क्योकि इसका संबन्ध अलौकि शक्ति से है।

वस्तुत: रहस्यवाद अध्यात्मवाद की पर्याय है। प्राचीनकाल में आचार्यो, कवियों और मुनियों ने जिस रहस्यवाद का प्रतिपादन किया था वही अध्यात्मवाद काव्य में रस का संपर्क प्राप्त कर रहस्यवाद बन गया है। अध्यात्मवाद केवल साधनामूलक और ज्ञानमूलक होता है, किन्तु रहस्यवाद भक्ति और साधनामूलक। भक्ति मिश्रित साधना का सम्पर्क प्राप्त कर ज्ञानमूलक शुष्क चर्चाएं सरस रहस्यवाद के रूप मे परिणत हो जाती हैं।

जैनवाङ्मय में सामरस्यभाव, बाह्याचार का निरसन, प्रतीको एवं रहस्यवादी शब्दावली के द्वारा चित्तशुद्धि का निरूपण और परमात्मपद की प्राप्ति आदि रहस्यवादी तत्त्व प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

जैन रहस्यवाद का स्वरूप

आत्मानुभूति द्वारा स्व को शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानरूप अनुभव करते हुए श्रद्धा, ज्ञान एव चारित्र द्वारा परमशुद्ध परमात्म तत्त्व से मिलन की क्रिया ही रहस्यवाद या रहस्यमार्ग है।

जैन दृष्टि से विशुद्ध चेतनस्वरूप की उपलब्धि ही रहस्यवाद का साध्य है। शुद्ध परमात्मतत्त्व के साथ अपनी एकता का स्पष्ट सवेदन रहस्यवाद है। इस सवेदन में रत्नत्रय की उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ती जाती है और आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन जाता है।[1] जैन रहस्यवाद मे उपनिषद् के समान ही गुह्यातिगुह्य परमतत्त्व की खोज और प्रत्यक्षीकरण का प्रयास दिखलाई देता है। किन्तु जैनों का परमात्मा न तो अद्वैत है न सृष्टिकर्ता।[2]

जैनाचार्यो ने प्रत्येक आत्मा को शक्ति की अपेक्षा परमात्मा के समान बताया है। इनके अनुसार जीवात्मा से परमात्मा भिन्न नही है। कर्मबद्ध आत्मा आत्मा कहलाता है। और कर्ममुक्त परमात्मा। रहस्यवाद की प्रक्रिया में आत्मा स्वानुभूति के द्वारा द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मो का विनाश कर परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।[3] इस दर्शन में आत्मा एक नही अनेक हैं। सभी आत्माएं परमात्मा बन सकती है।[4] परमात्मा बनने की प्रक्रिया साधना मार्ग है, इस साधना को योगमार्ग भी कहा जा सकता है। जैन मान्यता के अनुसार आत्मानुभूति अलौकिक होती है। इसकी तुलना ससार की किसी वस्तु से नही की जा सकती।

साधना मार्ग

जैन दर्शन में रत्नत्रय को साधना मार्ग कहा है।[5] इस मार्ग की तीन कड़िया हैं-सम्यक्दर्शन सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र। सम्यकदर्शन आत्मसत्ता की आस्था है। मै कौन हू? क्या हूं? कैसा हू? इसका निश्चय ही सम्यक दर्शन है।

संसार में अनन्त पदार्थ हैं। अनन्त चेतन और अनन्त जड़। जड़ और चेतन के भेद की प्रीति ही सम्यकदर्शन का उद्देश्य है। मोह वश आत्मा पर पदार्थो को अपना मानता है। विभिन्न द्रव्यों के एक क्षेत्रावगाह होने से आत्मा का जड़ पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दही और चीनी के मिलाने से श्रीखण्ड बनता है और इस श्रीखण्ड मे मिश्रित दही एवं चीनी का एक रूप प्रतीत होता है उसी प्रकार एक क्षेत्रावगाह होने पर भिन्न भिन्न लक्षण वाले पुदगल और आत्मा एक प्रतीत होते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से रागद्वेष रूप परिणति होती है जिससे जीव का उपयोग विकारी हो जाता है। जब भेद ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब चैतन्य की शक्ति पुद्गल की शक्ति से भिन्न प्रतीत होने लगती है। ध र्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल तथा अन्य जीव ये सब साधक के लिये पर द्रव्य हैं ये आत्मा में निमित्त नैमित्तिक भाव से प्रकाशमान हैं। जब आत्मा मे निजरस प्रकट हो जाता है और भेदबुद्धि का प्रकाश व्याप्त हो जाता है तो धर्म अधर्म आदि द्रव्य भी पर प्रतीत होने लगते हैं।

जब तक जीव निज सहज स्वरूप और क्रोधादि औपाधिक भावो में अन्तर नही जानता है। तब तक क्रोधादि भावो को ही निजस्वरूप जानने के कारण उनमें उसकी प्रवृत्ति होती है, इस प्रवृत्ति से पुदगल कर्म का आश्रव होता है। आश्रव से बन्ध और बन्ध से संसार परंपरा चलती है।[1]

आत्मा की अप्रतीति मिथ्यात्व है और प्रतीति सम्यकत्व। अप्रतीति से स्व और पर का भेद लुप्त हो जाता है और जीवात्मा पर को भी स्व समझने लगती है यही अज्ञान और दुःख का कारण है। जब आत्मा की प्रतीति हो जाती है तो वीतरागभाव और स्वरूप रमणता प्राप्त हो जाती है।[2]

स्वप्रतीति के पश्चात् स्वज्ञान या सम्यकज्ञान होता है। सम्यकज्ञान के होते ही साधक सोचने लगता है कि अनन्त अतीत में भी जब पुद्गल का एक कण भी मेरा अपना नहीं हो सका तब अनन्त अनागत में वह मेरा कैसे हो सकेगा। मैं मैं हूं और पुद्गल पुद्गल है। आत्मा कभी पुद्गल रूप नहीं हो सकता और पुद्गल कभी आत्मरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार का बोध ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है। इस विश्व के कण-कण में अनन्तकाल से पुद्गल की सत्ता

रही है और भविष्य मे भी अनन्तकाल तक रहेगी। साधक पुद्गल के अभाव की चिन्ता नहीं करता, अपितु आत्मा मे पुद्गल के प्रति होने वाली ममता का त्याग करता है। जब पुद्गल की ममता दूर हो जाती है तब एक पुद्गल तो क्या अनन्तानन्त पुद्गल भी आत्मा का कुछ नही बिगाड़ सकते।

सम्यक्ज्ञान का अर्थ है आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान। सम्यकज्ञान थोड़ा भी हो तो वह अधिक अज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अत: आत्मसाधना मे ज्ञान की लोलुपता अपेक्षित नहीं है ज्ञान की विशुद्धता अपेक्षित है।[1]

आत्मसत्ता की सम्यक प्रतीति और आत्मा स्वरूप की सम्यक् सप्ति हो *जाने पर भी जब तक उस प्रतीति और सप्ति के अनुसार आचरण नहीं किया* जाएगा, तब तक साधक की साधना परिपूर्ण नही हो सकेगी। प्रतीति और ज्ञप्ति के साथ आचार आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। आत्मा का विश्वास और ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी जब तक उसे परपदार्थो से पृथक् करने का प्रयत्न नही किया जाएगा, तब तक अभीष्ट सिद्धि नही हो सकती। अत: सम्यक्दर्शन और सम्यकज्ञान के होने पर भी सम्यकचारित्र के बिना स्वस्वरूप की प्राप्ति नही हो सकती।[2]

आत्मा का अपने सकल्प विकल्प और विकारी भावो को छोड़कर स्वरूप मे लीन होने की प्रक्रिया का नाम ही सम्यक्चारित्र है। यही सर्वोकृष्ट शील और विशुद्ध सयम है। चारित्र, आचार, संयम और शील आत्मा की ही शुद्ध शक्ति विशेष हैं।[3] जैन दृष्टि से प्रतीति को विचार में और विचार को आचार मे परिवर्तित करना ही पूर्ण साधना है। चारित्र अथवा आचार का अर्थ बाह्य क्रियाकांड नही है।[4] आत्मस्थिति रूप सम्यक्चारित्र ही उपादेय है। चारित्र आत्मा का गुण है,-इसी की साधना से वीतराग भाव रूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। वीतराग भाव के उत्पन्न होते ही साधक राग और द्वेष से रहित हो जाता है। जितने अश में राग या द्वेष होते है उतने अश में चारित्र नही होता। अत: साधक अपनी साधना द्वारा आत्मा को काम क्रोध मोह आदि विकारो से पृथक कर परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।[1]

जैन रहस्यवाद चिन्तन और अनुभूतिप्रधान है। आत्मा में अनुभूति की सहज शक्ति विद्यमान है, इस अनुभूति के द्वारा ही साधक विकार या विकल्पों को पररूप मानतीं हुआ अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर स्वातन्त्रय लाभ कर लेता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जैन रहस्यवादी प्रणाली के अनुसार दो मार्ग हैं- संवर और निर्जरा।[2] सवर द्वारा साधक नवीन कर्मो के आगमन को रोकता है।[3] निर्जरा द्वारा संचित कर्मो को क्षय करता है। निर्जरा दो प्रकार की है- सविपाक और अविपाक। कर्मो के उदयकाल में उनके शुभ एव अशुभ के वेदन को विपाक कहा गया है। इस विपाक के द्वारा जो कर्मक्षय होता है उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा साधना के बिना स्वत: होती है, अत: इसके द्वारा कर्मो का अन्त संभव नहीं है।[4] अविपाक निर्जरा द्वारा साधक तप ध्यान योग एव अन्य आध्यात्मिक साधनाओ से कर्मफल को भोगे बिना ही उदयकाल में आने से पूर्व ही क्षय कर देता है।[5] इस प्रकार साधक विभाव भावो का त्याग कर निर्विकल्प समाधि मे पहुंच जाता है[6] और अपने पूर्व संचित कर्मो को क्षय कर डालता है।

जैन वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राकृत और सस्कृत के कवियों ने ज्ञानमूलक अध्यात्मवाद का निरूपण किया है तो भ्रंश के कवियो ने साधनात्मक अध्यात्मवाद का और हिन्दी के जैन कवियो ने इसी अध्यात्मवाद में प्रेम और दाम्पत्यभाव का नियोजन कर इसे सरस और हृदयग्राही बनाने का प्रयास किया है।

जैन रहस्यवादी ग्रन्थों के अध्ययन के फलस्वरूप हमारी दृष्टि मे जैन रहस्यवाद में निम्न तत्त्वों का समावेश पाया जाता है-

1. आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता
2. आत्मा और परमात्मा मे ऐक्य की भावना
3. कर्मवद्ध आत्मा का कर्मरहित आत्मा के प्रति समर्पण
4. अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शनमय आत्मा के अस्तित्व का दृढ़ निश्चय और उसके शुद्धिकरण पर विश्वास।

5. सांसारिक प्रलोभनों का त्याग
6. आत्मानुभूति के लिये गुरू का महत्त्व
7. बाह्य आडंबर का त्याग
8. चित्तशुद्धि या आत्मनिर्मलता का स्थान सर्वोपरि
9. विकास के सोपानमार्ग का अवलोकन
10. पुण्य पाप दोनों का त्याग
11 योग मार्ग का निरूपण
12. प्रतीको एव पारिभाषिक शब्दावलियो का प्रयोग
13. अभिव्यक्ति की सरसता
14. आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति का विश्वास
15. आत्मा और परमात्मा मे तात्त्विक अन्तर न होने पर भी व्यवहारनय से पृथकता का विवेचन एव परमात्मा पद की प्राप्ति के लिये दाम्पत्य भाव का समारोह।

सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद में अन्तर

सामान्य (औपनिषदिक) रहस्यवाद मे परमात्मा और जीवात्मा मे अशी और अश का मम्बन्ध है। जब जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण होता है तब जीवात्मा का अस्तित्व परमात्मा मे विलीन हो जाता है, पर जैन रहस्यवाद मे आत्मा और परमात्मा मे अश अशी का सम्बन्ध नही है। आत्मा और परमात्मा दोनो मे शक्ति की अपेक्षा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये चार गुण पाये जाते है। कर्मबद्ध आत्मा मे ये अनन्त चतुष्टय प्रकट नही होते कर्मयुक्त होते ही अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाते है और आत्मा परमात्मा हो जाता है।[1] आत्मा की शुद्धतम स्थिति ही परमात्मा है। परमात्मा होने पर ही उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। यहा पर आत्मा एक नही है। अनन्त आत्माए है और अनन्त परमात्मा है।

सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद का साधना मार्ग भी भिन्न है।

परमात्मा बनने के लिये आत्मा का गुणस्थान आरोहण आवश्यक है।[2] साधना द्वारा आत्मा की शक्ति उत्पन्न नही करनी है अपितु अपने अन्दर निहित शक्ति को ही अभिव्यक्त करना है।

सन्दर्भ

1 परमात्मप्रकाश, डा ए एन. उपाध्ये रामचन्द जैन शास्त्रमाला भूमिका, पृ 106

2. जैन धर्म, प कैलाशचन्द शास्त्री भारतीय दि. जैन सघ पृ. 111

3 परमात्पप्रकाश, पृ 22 दोहा 15

4 वही, पृष्ठ 89 दोहा 2 3

5 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:। उमास्वामी 1/1

1 पञ्चास्तिकायसग्रह श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य, हिन्दी अनुवादक श्री मगनलाल जैन, दि जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, पचम सस्करण सन् 1959, गाथा 128, 129, 130

2 वही, पृ 240, गाथा 162

1. जैन दर्शन, डा. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृ 244

2. पञ्चास्तिकायसग्रह आचार्य कुन्दकुन्द हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल सेठी, पृ. 163, गाथा106

3 द्रव्यसग्रह नेमिचन्द सिद्धान्तदेत स डा दरबारीलाल कोठिया, पृ. 45, 46

4 जैन दर्शन, डा महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य वर्णी ग्रन्थमाला पृ 244

1 प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द टीकाकार व शीतलप्रसादजी पृ 54

2 वही, पृ 61

3. जैन दर्शन डा. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य पृ. 238 से 242 तक

4 वही, पृ. 242

5. वही पृ. 242

6 परमात्मप्रकाश द्वि अध्याय, दोहा 189 से 195 तक

1 परमात्म प्रकाश, अध्याय 1 दोहा 75

2 गोम्मटसारजीवकाड, आचार्य नेमिचन्द्र

अलका, 35 इमामवाड़ा
मुजफ्फरनगर

कवि नथमल कृत 'दर्शनसार-भाषा'

-डॉ. वीरसागर जैन

आज से लगभग 1070 वर्ष पूर्व माघ शुक्ला दशमी विक्रम सवत् 990 में धारा नगरी मे आचार्य देवसेन ने प्राकृत-भाषा मे एक 'दर्शनसार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमे विभिन्न मिथ्या मतो के उद्भव आदि का ऐतिहासिक दृष्टि से सक्षिप्त परिचय दिया गया है। विशेषतया मिथ्यात्व के विपरीत, एकान्त, संशय, विनय और अज्ञान-इन 5 भेदो का इस ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण परिचय अंकित है। इसी प्रकार द्राविड़ सघ, माथुर संघ, काष्ठा सघ आदि के परिचय की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अत्यन्त लघुकाय है, परन्तु अपनी विषयवस्तु के कारण पाठको मे बहुत चर्चित रहा है।

प्राकृतभाषा से अनभिज्ञ आधुनिक पाठको के लाभार्थ उक्त 'दर्शनसार' का कवि नथमल ने आज से लगभग 140 वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा चतुर्थी, शनिवार, विक्रम संवत् 1920 मे हिन्दी भाषा मे सुन्दर पद्यानुवाद किया है, जो आज भी बहुत उपयोगी प्रतीत होता है। अत एव साहित्यानुरागी पाठको के अध्ययनार्थ उसे यहाँ उचित सम्पादन के साथ अविकल रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। मेरी जानकारी के अनुसार आज इसकी एक मात्र पाडुलिपि जयपुर के बाबा दुलीचन्द ग्रन्थ-भण्डार मे उपलब्ध है और अद्यावधि अप्रकाशित है।

अथ दर्शनसार भाषा लिख्यते-

(दोहा)

अनेकान्त प्रकाशकर, नाशै मत एकान्त।
अनंत दूषण रहित है, नमौ परम शिव शांत॥ 1॥
देवसेन गणि नैं कियो, प्राकृत दर्शनसार।
ताकी भाषा लिखत हूँ, मंदमती-हितकार॥ 2॥

(चौपाई)

चतुरनिकाय[1] नमैं सुर पाय[2], करि प्रणाम अंतिम जिनराय।
भाषत हूँ मैं दर्शनसार, पूरब सूरि[3] कथित अनुसार।। 3।।
नमैं सुरासुर जिनके पाय, भारत[4] चौबीसौं जिनराय।
केई तिनके समयनि मांहि, भए प्रवर्तक मिथ्या राह।। 4।।
नाम मरीच भरत नृप जाम, भयो मिथ्याती अद्य को धाम।
सब भ्रष्टनि मैं धोरी[5] थयो, पूरब सूरि एम वरणयो।। 5 ।।
तानैं कीनें नाना वेष, मूरतिमान मिथ्यात विशेष।
सम्यक् व्रत के नाशन हेत, और निह्नू कै भये निकेत।। 6 ।।
एकांत जु संशय मिथ्यात, विपरीत जु विनयज अघपांत।
फुनि पंचम अज्ञान विचार, पूरव सूरि कहे परकार।। 7 ।।
सरजूकै तट नगर पलास, पिहिताश्रव को शिष्य कुवास।
बुद्धिकीर्ति जाको है नाम, पारस तीरथ[6] मैं अघधाम।। 8 ।।
मछरी[7] आदि भक्षत कै मांहि, जानैं[8] पाप कह्यौ कछु नांहि।
राते[9] कपड़े धरि एकान्त, जाहि प्रवर्तायो सब भांति।। 9 ।।
दही दूध मिश्री फल जथा, मांस जीव-बिन भाख्यो तथा।
तातैं पल[10] कूं भखते जीव, पापीष्टी है नांहि कदीन।। 10।।
मदिरापान न वर्जित भणै, जल घृत तेल समान हि गिणैं।
ऐसैं लोगनिकूं बहकाय, वरताये सब पाप उपाय।। 11 ।।
करै और भौगै फल और, करता पै नहिं विधि[11] को जोर।
ऐसैं अपनौ रचि सिद्धांत, नरकनिवास लह्यौ बिन भ्रांत।। 12 ।।

एकान्त मिथ्यात्व :-

विक्रम नृप कौं परभव गए। बरस एक सो छतीस भए।।
सोरठ देश वलभिपुर मांहि। श्वेताम्बर उपजे शक नांहि।। 13।।
भद्रबाहु गणी को शिष्य। सत्याचार्य भयो सुभविष्य।
ताको शिष्य जिनचन्द्रहि दुष्ट। मदाचरण भयो अघपुष्ट।। 14।।

तानैं कियो सितांबर[12] भेष। तिय[13] कै तद्भव मोक्ष विशेष।
करै केवली कवलाहार। धारैं तन मैं रोग अपार।। 15 ।।
यतिपद वसनधरन[14] तैं सही। गरभधि वालंवर कै कही।
सब भेषनि तैं शिवपद जात। सब घर प्रासुक भोजन खात।। 16 ।।
गर्भ ब्राह्मणी तणें मंझार। पहलैं वीर लयो अवतार।
पीछैं सुरपति जिनकूं कारि। धार्‌यो त्रिशला गर्भ मंझार।।17।।
औरहु इत्यादिक बहुभांति। भाषी शंशै मत की पाति।
पापबन्ध तैं तजिकै प्राण। उपज्यौं यह लै नरक सथान।।18।।

संशय मिथ्यात्व :-

मुनिसुव्रत के तीरथ मांहि। क्षीरकदम्ब विप्र शुभ भांहि।
ताको सुत है परबत नाम। क्रूर निर्दई अघ[15] को धाम।।19।।
तानैं कीनौं मत विपरीत। नाशी सब संयम की रीत।
तातैं संच्यौ[16] पाप महान। पायो सप्तम नरक सथान।।20।।

विनय मिथ्यात्व :-

विनय मिथ्यात धरै सब वेस। धारै जटा मुडावै केश।
चोटो राखै नांगे रहै। नाना वेष विनयमत गहै।।21।।
दुष्ट होहु अथवा गुणवान। सबकी कीजे भक्ति समान।
देव देव सबही है एक। धरिए नांही कछू विवेक।।22।।
वीरनाथ[17] के समय झंझार। मर्कट पूरण साधु विचार।
लोक विषैं अज्ञान मिथ्यात। तानैं भाख्यो नाना भाँति।। 23।।
है अज्ञान तै मोक्ष सथान। युक्त जीव कै नांही ज्ञान।
फिरि आगमन भ्रमण है नांहि। जीवनि कै भव-भव कै मांहि।। 24।।
सब जीवनि को करता एक। शून्य ध्यान धारै न विवेक।
ऐसैं यह अज्ञान मिथ्यात। म्लेच्छनि मैं है नाना भांति।। 25।।
जिनमत बाहरि मिथ्या राह। परकट करि लोकनि कैं माह।
गयो निगोद सहै दुख घोर। जन्म मरण को नांही ओर।। 26।।

अज्ञान

पूज्यवाद मुनिवर को शिष्य। व्रजनंदि नामा इक भिक्ष[18]।
पाहुड ज्ञान धारतो दुष्ट। द्राविड़ संघ कर्‌यो अति पुष्ट।। 27।।
अप्रासुक के भक्षण मांहि। मुनि कै दोष कछू भी नांहि।
ऐसैं काहे विपरीत सिद्धान्त। तानैं कल्पे मिथ्या ध्वान्त[19]।। 28।।
बीजनि मैं नांहि है जीव। बैठयो भोजन कहै सदीव।
प्रासुक नांही कोऊ खान[20]। खानैं मैं नहिं पाप निदान।। 29।।
जैसैं भखिए घर को चून[21]। तैसैं ही मोदी[22] को चून।
यामैं अवद्य[23] लेस हू नांहि। भाषत है द्राविडमत मांहि।। 30।।
वाडी खेती चुनि कैं गेह। करि व्योपार जीवते जेहू।
शीतल जल मैं करतें न्हान[24]। तिनकै पाप लेश नहि जान।। 31।।
यमवसि विक्रम नृप कूं भए। वर्ष पाँच सै छत्तिस गए।
उपज्यो दक्षिण मथुरा मांहि। द्राविड़ संघ मोह अधिकाहि।। 32।।

द्राविड़ संघ

वरष सात सैं पांच जु गए। पुर कल्याणवर माही ठये।
सिरी कलश नामा सेवाड़ो। जावलि संघ कियो तिहिं खड़ो।। 33।।
वीरसेन को शिष जिनसेन। कीनौं सब श्रुत को अध्येन।
पद्मनन्दि मुनि पीछे सोहु। च्यारि संघ कौं धारै जोहु।। 34।।
ताको शिष्य महागुणवान। शुभ भद्दर धारै शुचि ज्ञान।
करै वास पक्ष के सदा। भावलिंग मैं दोष न कदा।। 35।।
विनयसेन कू तत्त्वस्वरूप। जणवायो सत्यारथ रूप।
कहि सिद्धान्त धारि संन्यास। पायो देवलोक को पास।। 36।।
विनयसेन को दिक्षित गाम। नदी तट मै अघ को धाम।
नाम कुमारसेन संन्यास। भंजन करित हि मानै त्रास।। 37।।
मोरपिछिका जानै जही[25]। चरमघोषणा घोसै सही।
सब ही बागड[26] देश मझार। उनमारग कल्प्यौ अघद्वार।। 38।।
वनिता फिरि दिक्षा कूं गहै। क्षुल्लक वीर चर्या कूं वहै।

सरह गाय को राखैं चौंर। छठो गुणठाणौं है और।। 39।।
आगम शास्त्र पुराणदि का। प्रायश्चित अन्यथा तिका।
ते सब रचिकै मूढनि मांहि। फैलायो मिथ्यात अथाह।। 40।।
श्रवण[27] संघ तैं वाहरि सोय। नागकुमार सेन अवलोय।
समय मिथ्याती रुद्र सुभाव। काष्ट संघ थाप्यो अघ भाव।। 41।।
वरष सात सै त्रेपन गए।---------------------।
नंदी तट वर गाम मंझार। काष्ट संघ जाणों अघकार।। 42।।
नंदी तट वर गाम मंझार। नामकुमार सेन श्रुतधार।
दर्शनभ्रष्ट भयो संन्यास। भंजन करिकै अघ कौ वास।। 43।।

काष्ठा संघ -

नव सत त्रेपन वर्ष जु गए। मथुरा नगरी में वरणए।
रामसेन नामा इक जती। संघ निपिच्छ रच्यो अघमती[28] ।। 44।।
जो सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात। सो तातें थाप्यो इह भांति।
यह जिनबिंब जिनेश्वर गेह। मेरो है तेरो नहिं एह।। 45।।
यह ही है गुरु मेरो सही। जा ढिंग मैंने दीक्षा गही
अपना गुरु कुल कौ अभिमान। धरै करै पर कौ अपमान।। 46।।

निपिच्छ संघ -

सीमंधर जिन तैं शुचि ज्ञान। लहिकै पद्मनन्दि गुणवान।
जो नांही संबोधन करै। तो मुनि सुमग किसैं अनुसरै।। 47।।
भूतबली मुनि पुष्प जु दंत। दक्षिण उत्तर में निरभ्रंत।
जो उपदेश तत्त्व को कियो। सो सत्यारथ अनुक्रम लियो।। 48।।
पुष्कलपुर दक्षिण दिसि लसै। वीरचंद मुनि तैठै बसै।
बरस अठारा सै कों गये। भिल्ल संघ थापै गो नये।। 49।।
सो करि कै निज गछ विथार। पडिकोणों किरिया अधिकार।
भिन्न प्ररूपि हणें गोपंथ। जिनवर को धारे गो ग्रंथ।। 50।।
ता पीछैं मिथ्यामत भेव। ना ह्वैगो भाखी गणदेव।

काल पंचमा के अवसान। मिथ्यामत विनशै सब थान।। 51।।
वीरांगद नामा मुनि एक। मूल गुणी है गो सुविवेक।
अल्पश्रुती हू करै संबोध। वीरनाथ सममत अविरोध।। 52।।
पूरव आचारिज कृत ग्रंथ। लखि कैं देवसेन शुभ पंथ।
केई गाथा करि इक थानि। धारा नगरी में गुणखानि।। 53।।
संवत् नौ सैं निव्वै मानि। माघ शुक्ल दशमी तिथिजांनि।
भविजीवनि कै हार समान। दर्शनसार रच्योशुभ खानि।। 54।।
पारस जिन के गेह मंझार[29]। रूषो तषो जन अविचार।
सत्यकथन तैं साड़ी जथा। जूं का भय तैं तजिय न तथा।
वीस अधिक उगणीसै साल। श्रावण प्रथम चौथि शनिवार
कृष्ण पक्ष मैं दर्शनसार। भाषा नथमल लिखी सुधार[30]।।

संदर्भ

1 भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक - ये चतुर्निकाय के देव है। 2. पैर, चरण। 3 पूर्वाचार्य। 4 भरतक्षेत्रवर्ती। 5 प्रधान। 6. पार्श्वनाथ के तीर्थकाल मे। 7. मछली। 8 जिसने, 9. लाल, 10 मास, 11. कर्म, 12 श्वेताम्बर, 13. स्त्री, 14. वस्त्रधारण, 15 पाप, 16 सचित किया, 17 महावीर स्वामी, 18 भिक्षु, 19. मार्ग, 20. खाद्य पदार्थ, 21. आटा, 22 व्यापारी, 23. पाप, 24 स्नान, 25. छोडी, 26 हरियाणा, 27 श्रमण, 28. पापबुद्धि, 29 पार्श्वनाथ के मन्दिर मे, 30 सावधानी से।

नोट - दर्शनसार ग्रथ आचार्य देवसेन की मूल रचना नही है, जैसा कि लेखक ने लिखा। अपितु यह सग्रह ग्रथ है जिसका उल्लेख स्वय देवसेन आचार्य ने दर्शनसार मे किया है तथा हि-

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसंतेण।।

- दर्शनसार 49

-सम्पादक

अध्यात्म एवं चिकित्सा-विज्ञान की जुगलबंदी

-प्राचार्य निहालचंद जैन

अध्यात्म, प्रार्थना, ध्यान और सामायिक का रोगी के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर पश्चिमी जगत विशेषकर इग्लैंड में बहुत अनुसंधान और विवेचनाएँ चल रहीं है। भारत जिस आध्यात्मिक आस्था से हजारो वर्षो से जुड़ा है आज विश्व का ध्यान, उन रहस्यो की ओर जाना शुरू हो गया है। ब्रिटेन में इस समय एक बात पर विशेष बहस चल रही है भारत मे प्रचलित अध्यात्म, आस्था और प्रार्थना जैसे भाव-विज्ञान से रोगी के स्वस्थ होने की रफ्तार बढ़ जाती है इस पर ब्रिटेन में भी सफल परीक्षण/प्रयोग हुए है, आखिर इसके पीछे रहस्य क्या है?

डॉ. लारी डोसे ने अपने एक सस्मरण मे लिखा कि उन्होने प्रार्थना की एक अजीव चिकित्सा पद्धति का अनुभव किया। उन्होने अपने प्रशिक्षण समय का जीवन्त वृतान्त लिखा, जब वे टेक्सास के पाईलैण्ड मेमोरियल अस्पताल मे थे। उन्होंने एक कैसर मरीज को अंतिम अवस्था में देखा और उसको यही सलाह दी कि वह उपचार से विराम ले ले, क्योंकि उपलब्ध चिकित्सा से उसे कोई लाभ नही हो रहा था।

उसके विस्तर पर बैठा हुआ कोई न कोई मित्र, उसके स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थना किया करता था। एक वर्ष के पश्चात् जबकि डॉ. लारी वह अस्पताल छोड़ चुके थे, एक पत्र मिला कि क्या आप अपने पुराने मरीज़ से मिलना चाहेगें। 1980 में जब डॉ. लारी मुख्य कार्यकारी अधिकारी बना, उन्होंने यह निष्कर्ष दिया कि प्रार्थना से विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं।

शरीर में होने वाली 'व्याधि' का मुख्य कारण हमारी मानसिक सोच है, जो 'आधि' के नाम से जानी जाती है। हमारी सोच ही मनोविकारो/मनोरोगों का

कारण बनती है। प्रार्थना मन की बीमारी का सही इलाज है।

व्यक्ति जब 50 की उम्र पार कर जाता है तो उस पर मानसिक तनाव का प्रभाव जल्दी होने लगता है। चिड़चिड़ापन उसके तनाव की ही अभिव्यक्ति है। प्राय: डायबटीज बढ़ने, भूख कम लगने, कमर-दर्द, आंखों की ज्योति मंद पड़ने और रक्तचाप प्रभावित होने आदि मानसिक तनाव के कारण है।

वस्तुत: प्रार्थना मे हम उस लोकोन्तर व्यक्तित्व से जुड़ते हैं, जिसकी भाव-रचना को हमने अपनी प्रार्थना का आधार बनाया है। भक्तामर स्तोत्र (मूल संस्कृत) का उच्चारण करते हुए, क्या हम वैसी ही ध्वनि-तरगो का निष्पादन और निर्गमन नहीं करने लगते, जो आचार्य मानतुंग ने सृजित की होगी। उस क्षणों में हम आचार्य मानतुग से तादात्म्य स्थापित कर लेते है।

प्रार्थना - केवल वाचनिक न रहे, उसे यदि भावों से जोड़कर की जावे तो असर बहुत तीव्रता से होता है। बुरे विचारों के लिए, प्रार्थना एक Reflector का काम करती है, जो हमारे भीतर आक्रमण करें इसके पहले ही प्रत्यावर्तित हो जाते है। प्रार्थना भावात्मक परिवर्तन मे बड़ी सहायक होती है।

घटना 1999 की है। कैसर विशेषज्ञ डॉ. राबर्ट ग्राइमर, बर्मिघंम रायल आर्थोपेडिक अस्पताल के अधिकारी थे। उनकी नजर एक ऐसे मरीज पर पड़ी जो हड्डियो के कैंसर से, जीवन-मृत्यु के बीच संघर्ष कर रहा था। उसका ट्यूमर, ऑपरेशन के द्वारा निकाल दिया गया था, लेकिन जब दूसरा ट्यूमर और पैदा हो गया, तो मरीज़ ''मैरी सेल्फ'' ने मौत को ही मित्र मान लिया। वह पेशे से साइकियाट्रिस्ट थी। उसने दवा की चिन्ता छोड़कर ईश्वर की प्रार्थना और उसके प्रति अटूट आस्था से जुड़ गयी।

समय बीतता गया और कुछ अद्भुत परिणाम हासिल हुए। स्कैन रिपोर्ट में उसका ट्यूमर घटता हुआ नजर आया। जब इस आश्चर्यजनक घटना के संबध में डॉ. ग्राइमर ने मैरी से पूछा। उसने बड़े आत्म विश्वास से भरकर कहा-''हाँ डॉ.! मेडिकल इलाज से परे भी कुछ और है, अच्छा होने में, मैं उसी को श्रेय देती हूँ।''

डॉक्टर ग्राइमर ने हँसते हुए कहा-''मै इसे खरीद लेना चाहूँगा''। नही डॉक्टर! आप ईश्वर के प्रति आस्था पैदा कर सकते है, परन्तु इसे करोड़ो डॉलर में भी नहीं खरीद सकते। वस्तुतः यह वस्तु नहीं है, जो खरीदी जा सकती है।

ब्रिटेन के डॉक्टरो का ध्यान इस दूसरी शक्ति की ओर जाने लगा जिसे ध्यान (अध्यात्म की शक्ति) या प्रार्थना की अमोध शक्ति कह सकते है और चिकित्सा विज्ञान, इस अध्यात्म विज्ञान से परस्पर जुड़ा हुआ देखा जाने लगा है।

एडिनवरा यूनिवर्सिटी के मेडिकल स्कूल के डॉक्टर मरे अपने साथ मरीज की एक्स-रे-रिपोर्ट और पेनिसिलन के साथ यह भी जानकारी रखते हैं कि क्या मरीज कभी प्रार्थना भी करता है?

प्राय: मरीज के मन में जो, परेशानियां उसकी बीमारी पर हावी है, उन्हे बाहर निकालने के लिए डॉक्टर प्रयोग करे, तो इलाज का प्रभाव जादू की भांति होता है।

वह जादू है-आध्यात्मिक इलाज।

प्रो. स्टीव राइट के अनुसार पहले डॉक्टर को अध्यात्म की जरूरत है, जिससे वह मरीज को प्रभावित कर सकता है। वह केवल आध्यात्मिक शक्ति है। एडिनवरा यूनिवर्सिटी के चिकित्सा-छात्रों ने पाठयक्रम निर्धारकों से मांग की कि वे चिकित्सा-पाठयक्रम के साथ अध्यात्म की कक्षाएँ लगायें।

चिकित्सा पाठयक्रम के साथ-ध्यान और योग का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। ध्यान एवं योग में शारीरिक स्थिरता के साथ मन के एकाग्र होने की एक वैज्ञानिक प्रविधि है। ध्यान में किसी मन्त्र या मन्त्र के बीजाक्षर का विशुद्ध चिन्तन है, जिससे आत्मिक शक्ति और दृढ़ संकल्प-शक्ति बढ़ती है, जो क्रोध/ईर्ष्या/अहंकार/आवेशात्मक उद्‌वेगो आदि विकारों पर नियन्त्रण प्राप्त कर व्यक्ति को सहिष्णु और मानसिक तनाव रहित कर शान्त और स्वाभाविक रूप से जीने में सहायता करता है।

हमारा चित्त-हमेशा बाहर दौड़ता रहता है। जीवन-ऊर्जा का 80% यो ही अकारण बाहर बहकर नष्ट हो जाता है इसे संघारित्र करने की क्षमता हम अपने अन्दर नही कर पाते हैं। केवल ध्यान और योग से इस जीवन ऊर्जा या चिन्मय (चैतन्य-शक्ति) को अपने भीतर रोक सकते हैं। जैसे उत्तल लेन्स (Convex Lens) से फोकस की गई प्रकाश-किरणें एक बिन्दु पर केन्द्रित होकर ऊर्जा का घनत्व बढ़ा देती है और उससे आग उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही ध्यान से जीवन ऊर्जा का उपयोग, विचारो के शुद्धीकरण और विकारों के परिशोधन के लिए कर सकते है।

ध्यान हमारी बाह्य कायिक/वाचनिक/सूक्ष्म मानसिक भाव वृत्तियो का सकुंचन है। जितनी जितनी बाह्य प्रवृत्तियों का सकुंचन या निरसन होगा, आत्मा की शक्ति का उतना ही विकाश होता जाता है।

ध्यान - जैनदर्शन की आत्मा है। यह चरित्र-शुद्धि का अतिम पड़ाव है। हम रोज रोज मंदिर क्यों जाते हैं?

वस्तुतः प्रतिमा की ध्यानस्थ वीतरागी छवि के दर्शन से हमें अपनी मौलिकता में लौटने का रोज संदेश मिलता है।

ध्यान एक ऐसा भाव रसायन है, जो जीवन की असत् हिंसात्मक/खोटी एव वर्जनीय काषायिक प्रवृत्तियों को दूर करने का एक अभिनव प्रयोग है। ध्यान और योग के बिना जीवन-परिवर्तन संभव नहीं है।

रोग के निदान में ध्यान और योग अद्भुत क्षमता रखते हैं। नार्थ वैरोलिना की एक यूनिवर्सिटी के डॉक्टरों ने पाया कि जो लोग मंदिर, उपासना गृह या किसी प्रार्थना/ध्यान स्थल पर नियमित जाकर वहाँ ध्यान करते हैं, वे इन स्थानों पर न जाने वालों की अपेक्षा कम बीमार पड़ते हैं।

अध्ययनों से एक बात और सिद्ध हुई है कि जो लोग सप्ताह में एक से अधिक बार धर्मस्थलों/तीर्थ स्थानों पर जाकर धर्मसेवा करते हैं, वे अन्य लोगो की अपेक्षा सात वर्ष अधिक जीते हैं।

ब्रिटेन में 21 अध्ययनों से एक तथ्य और सामने आया है कि जो लोग प्रार्थना में विश्वास रखते हैं और प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं, वे ज्यादा प्रसन्न जीवन व्यतीत करते है। उन्हें मानसिक तनाव कम रहता है और शांति का अनुभव करते है।

ब्रिटेन के डॉ. गिल व्हाइट का कहना है कि-

"अध्यात्म के जरिये चिकित्सा देते समय मै उस समय तक प्रतीक्षा करती हूँ, जब तक मेरे शरीर मे एक करण्ट सा महसूस नही होने लगता। फिर मेरे हाथ मरीज के सिर व शरीर के ऊपर घूमते है और रोगी को मेरे मन व शरीर से टयूनिंग हो जाती है, जिससे हमारे व मरीज़ के बीच, ऊर्जा का सचरण होता है।

रॉयल सोसाइटी आफ मेडिसीन के जनरल मे प्रकाशित एक शोधालेख में डॉ. डिक्सन के अनुसार-पहले वह स्वय अध्यात्म के जरिये ऊर्जा संचित करता है, जो उसे ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से प्राप्त होती है, फिर मरीज के शरीर व मन को प्रदान करता है।

अध्यात्म के क्षेत्र मे 'विश्वास' एक शक्तिशाली चीज है। यदि डॉक्टर मरीज को यह विश्वास दिला पाने में सफल है कि अपने आराध्य के प्रति पूर्ण विश्वास रखे, तो जल्दी स्वस्थ हो जाओगे तो उस डॉक्टर की दवा ज्यादा असरकर साबित होगी।

अमेरिका के 125 मे से 50 मेडिकल कॉलेजों में इस समय अध्यात्म विषय को पाठयक्रम के रूप मे स्वीकार कर पढ़ाया जा रहा है। डॉक्टर ब्रानले एंडरसन का कहना है कि जब तब डॉक्टर स्वयं को अध्यात्म की ऊर्जा से चार्ज नहीं करेगा, तब तक वह मरीज को इस ऊर्जा से चार्ज कैसे कर सकेगा। आज पश्चिमी जगत में मेडिकल इलाज के साथ आध्यात्मिक इलाज को समग्र इलाज की संज्ञा दी गई है। और वह मरीज का हित करने में रात-दिन जुटा हुआ है।

भारत की इस विरासत को, जिसका अलिखित पेटेंट अभी तक भारत के नाम ही है, भारत में क्यो उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है? आवश्यकता

है कि अध्यात्म को चिकित्सा-विज्ञान के साथ जोड़कर मानवीय सेवा के इस उज्जवल-पक्ष को धर्म से जोड़कर देखा जाए। आलेख का समापन अपने निजी संस्मरणात्मक घटना से करना चाहूँगा जो अध्यात्म और चिकित्सा की जुगलबदी को पुष्ट करता है।

20 फरवरी 02 में, मेरी बेटी का Engagement हो गया। जयपुर मे वर-पक्ष, का सुझाव आया कि मार्च 02 मे ही शादी सम्पन्न हो जाए क्योंकि लड़के की मां, जो स्तन-कैंसर के आपरेशन के बाद सीरियस थी, शायद इस खुशी के क्षणों को न देख सकें।

मैंने लड़के की माँ को शादी होने के पूर्व ही एक लम्बा विश्वासपूर्ण पत्र लिखा कि ईश्वर में विश्वास रखें और भेजे जा रहे मन्त्र का जाप करे। आपको 'आत्म-विश्वास' की दवा का सेवन करना है। मन्त्र की अचूक शक्ति का प्रयोग करें। सामायिक में जो भी हिन्दी/संस्कृत स्तोत्र याद हों उन्हे प्रतिदिन करना शुरू करें। महावीर जयन्ती 2002 को शादी सम्पन्न हुई और आज एक वर्ष के पश्चात् अपने बेटे-बहू के साथ जीवन के अवशेष आयु कर्मो के निषेकों के साथ व शान्ति/सुख से जीवन जी रही हैं।

अध्यात्म की शाक्ति - जीवन मे एक अपरिमेय शाति की सुधा का जो रसास्वादन कराती है, वह अमूल्य विरासत है। जरूरत है एक पक्के विश्वास और आस्था को अपने भीतर संजोकर रखने की।

जवाहरवार्ड - बीना(म. प्र.)
फोन - (07580)-224044

पाँच दशक पूर्व आचार्य सूरसागरजी की अध्यक्षता में सम्पन्न त्यागी-व्रती सम्मेलन : निर्णयों की सार्थकता

(मेरी जीवनगाथा भाग-2 से उद्धृत)

सग्रहकर्ता -डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी बीसवी शताब्दि के जैन जगत् के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। उनके बहुमुखी प्रभाव, साहित्य साधना, निष्पृही जीवन, समाज सुधार एव जैन शिक्षा के प्रचार-प्रसार से जैन जगत् ही नही अपितु राष्ट्र भी गौरवान्वित हुआ है। अजैन कुलोत्पन्न 'गणेश' जैन दर्शन के समयसार स्वरूप शुद्धात्मा का साधक बनकर सभी का मार्गदर्शक बन गया। आपने जैन समाज की श्रावक/त्यागी सस्थाओ के सुधार और उन्नति मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जैन साहित्य मे 'मेरी जीवन गाथा' वर्णीजी का महत्वपूर्ण अवदान है। यह उनके कार्यकलापों एव अनुभवो के साथ ही जैन समाज की घटनाओ का प्रामाणिक दिशाबोधक दस्तावेज है।

मेरी जीवनगाथा-भाग 2 के अनुसार आज से लगभग 50 वर्ष पूर्व संवत् 2007 (ई. सन् 1950) मे सेठ छदामीलालजी ने फिरोजाबाद मे विशाल महोत्सव आयोजित किया था। इसमे आचार्य सूरसागरजी महाराज, वर्णीजी, अन्य अनेक त्यागी-व्रती, श्रीमत सेठ, विद्वान, समाज सुधारक, राजनीतिज्ञ आदि सम्मिलित हुए थे। इसका उद्घाटन उ. प्र. के मुख्यमत्री प. गोविन्द बल्लभ पत ने किया था। इस उत्सव में अन्य कार्यक्रमो के अलावा माघ शुक्ला 11 स. 2007 को आचार्यश्री सूरसागरजी महाराज की अध्यक्षता मे विशाल त्यागी-व्रती सम्मेलन हुआ जिसमे सघस्थ साधु-व्रती, वर्णीजी एव अन्य त्यागियों ने भाग लिया, जिनकी सख्या 70-75 थी। इसमे त्यागियों से

सम्बन्धित अनेक विवाद ग्रस्त विषयो पर गहन चर्चा की गई और आगम तथा आर्ष परम्परा के आलोक मे सम्मेलन में निम्न निष्कर्ष ग्रहण किए गए।

चार दशक पूर्व जो प्रवृत्तिया बीज रूप में दिखाई देती थी वे अब वट वृक्ष के रूप में दिखाई देने लगी है। अत: समय के निष्कर्ष आज भी समीचीन, दिशाबोधक एव उपादेय हैं। वे निष्कर्ष सर्व जानकारी हेतु नीचे उद्धृत किये है। विश्वास है सभी महानुभाव उक्त सम्मेलन मे लिए गए निर्णयो के प्रकाश मे अपनी चर्या आगमानुसार कर पद की गरिमा बनाये रखकर श्रमण सस्कृति को सुरक्षित रखेगे और ब्रह्मचारी भैया/दीदी समाज के आश्रित नही बनेगे।

1. जैनधर्म के श्रद्धालु त्रिवर्ण वाले व्यक्ति द्वारा जैनधर्म की प्रक्रिया से आहार बनाने पर व्रती उसे ग्रहण कर सकता है।
2. नवधाभक्ति का पात्र मुनि है क्षुल्लक नहीं। क्षुल्लक को पड़गाह कर पाद प्रक्षालन कर त्रियोग और अन्न जल शुद्धि प्रकट कर आहार देना चाहिए।
3. जैनागम अनेकान्त दृष्टि से पदार्थ का निरूपण करता है अत: कार्यसिद्धि के लिए निमित्त और उपादान दोनो आवश्यक है....दोनो की अनुकूलता से कार्य की सिद्धि होती हैं कथन कही-कहीं निमित्त या उपादान प्रधान हो सकते हैं परन्तु सर्वथा उपेक्षा न हो।
4. जैनागम में व्रत न लेना अपराध नहीं है किन्तु व्रत लेकर उसमे दोष लगाना या भग करना अपराध है। अत: चरणानुयोग के अनुसार प्रवृत्ति हो। पूर्वापर विचार कर ही व्रत ग्रहण करें और उनका प्रयत्न पूर्वक पालन करें।
5. सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा तक न्यायपूर्ण व्यापार करने की छूट है फिर क्यो पहली दूसरी प्रतिमाधारी त्यागी व्यापारादिक छोड़ भोजन वस्त्रादि के लिए परमुखापेक्षी बन जाते हैं।... यथार्थ में गृह त्याग भोजन 10वीं 11वी प्रतिमा से शुरू होता है। अत: छोटी मोटी प्रतिमा लेकर घर छोड़ना अनुचित है।
6. त्यागियों को किसी संस्थावाद में नहीं पड़ना चाहिए। यह कार्य गृहस्थो

का है त्यागी को इस दल-दल से दूर करना चाहिए। लोकेषणा की चाह सस्थावाद मे फसाने वाला तत्व है। त्यागी आत्म परिणामों पर दृष्टि रखते हुए जितना उपदेश बन सके उतना त्यागी दे अधिक की व्यग्रता न करे।

7. त्यागी को ज्ञान का अभ्यास अच्छा करना चाहिए। कितने ही त्यागी ऐसे है जो सम्यग्दर्शन का लक्षण नही जानते, आठ मूलगुणों के नाम नही गिना पाते।... त्यागी को क्रमपूर्वक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिए।... आगम ज्ञान के बिना लोक मे प्रतिष्ठा नही और प्रतिष्ठा की चाह घटी नही इसलिए त्यागी ऊट पटांग क्रियाये बताकर भोली-भाली जनता मे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते है, पर इसे धर्म का रूप कैसे कहा जा सकता है। ज्ञान का अभ्यास जिसे है वह सदा अपने परिणामो को तोलकर ही व्रत धारण करता है। समाज मे त्यागियो की कमी नही परन्तु जिन्हें आगम का अभ्यास है ऐसे त्यागी कितने हैं? अतः मुनि हो या श्रावक सबको आगम का अभ्यास करना चाहिए।

8. व्रतियों/श्रावकों का स्वछन्द विचरण ठीक नही। दीक्षागुरू की आज्ञा से धर्मप्रचार हेतु दक्ष मुनि एकल विहारी हो सकता है। एकल विहार आगम विरुद्ध प्रवृत्ति होती है जो शिथिलाचार की पोषक है। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ विहार करने मे इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमे बुरा कहेंगे, गुरु प्रायश्चित देंगे पर एकलविहारी होने पर किसका भय रहा? जनता भोली है इसलिए कुछ कहती नही, यदि कहती है तो उसे धर्म निन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है।

9. किसी मुनि को दक्षिण या उत्तर का विकल्प सता रहा है तो किसी को बीसपथ और तेरहपंथ का। किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है तो कोई शूद्र जल त्याग के पीछे पड़ा है। कोई स्त्री प्रक्षाल के पक्ष में मस्त है तो कोई जनेऊ पहराने और कटि में धागा बधवाने में व्यग्र है। कोई

ग्रन्थमालाओं के संचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रन्थ छपवाने की चिन्ता में गृहस्थो के घर-घर से चंदा मांगते फिरते हैं। किन्ही के साथ मोटरे चलती है तो किन्हीं के साथ गृहस्थ जैन, कीमती चटाईया और आसन पाटे तथा छोलदारियाँ चलतीं हैं। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिए आश्रय या उनकी सेवा मे लीन रहते है। 'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यो चूके' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बन आँख मीच चुप बैठ जाते हैं या हाँ में हाँ मिलाकर गुरूभक्ति का प्रमाण पत्र प्राप्त करने मे सलग्न रहते हैं। ये अपने परिणामों को नही देखते। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अंधकार जैसा है। जहाँ चारित्र है वहाँ कषाय नहीं और जहाँ कषाय है वहाँ चारित्र नहीं। पर तुलना करने पर बाजे-बाजे व्रतियों की कषाय तो गृहस्थों से कही अधिक निकलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात कर अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ।

10. महाराजश्री के अनुसार क्षुल्लक वाहन का उपयोग न करे। रुपयो का त्यागी अभ्यासी वाहन पर कैसे बैठ सकता है? अपनी कषाय की मंदता या तीव्रता देखकर ही कार्य करना चाहिए।

सन्दर्भ – मेरी जीवन गाथा-भाग 2 पृष्ठ 230-235
एव जीवन यात्रा पृष्ठ-165 से सग्रहीत

सुख और शान्ति का मूल : शाकाहार

-डॉ. सुषमा

मनुष्य ही नहीं समस्त प्राणी निरन्तर सुख (आनन्द) की कामना करते है। सुख या आनन्द तृप्तिदायी एक मनोभाव है, जो मानसिक क्षोभ के अभाव मे ही उत्पन्न होता है। मन जितना ही शान्त और निस्तरङ्ग होता है, उतना ही उसमे आनन्द का स्रोत उमड़ता है। इसके विपरीत उसमे जितना ही क्षोभ होता है, उतनी ही पीड़ा का तूफान अपनी उत्ताल तरङ्गों के साथ उसमे अंगड़ाई लेने लगता है। मन में क्षोभ का कारण लोभ, मोह और क्रोध होता है और इसके विपरीत मैत्री की भावना, करुणा और मुदिता वृत्तिया मन का प्रसादन करती है।[1] जीवहिसा मैत्री आदि भावो के रहते हो ही नही सकती, इसलिए यह सुनिश्चित है कि जीवहिसा करने वाले के हृदय मे मैत्री (प्रेम) आदि भावो का सर्वथा अभाव होगा और इसी कारण उसके चित्त में प्रसाद (शान्ति) का भी अभाव होगा अर्थात् उसमें क्षोभ होगा, जो निश्चय ही पीड़ा तथा दु:ख का कारण होगा। इसलिए यह विश्वासपूर्वक कहा जाना चाहिए कि जीवहिंसा की भावना अपने उद्‌भवकाल से ही दु:ख और पीड़ा की मूल है तथा जीव-दया सुख एव शान्ति का जनक है।

आजकल के कुछ पाश्चात्य चिकित्साशास्त्री शरीर के पोषण के लिए आवश्यक तत्त्वो मे प्रोटीन की मात्रा मांस, मछली और अण्डो मे सर्वाधिक है, ऐसा कहकर मांसाहार को आवश्यक अथवा लाभकारी सिद्ध करने का दावा करते हैं तथा 'मासात्मांसं प्रवर्धते' अर्थात् मासाहार मे मास की वृद्धि होती है, यह कहते हुए अपने कथन का समर्थन करने का प्रयत्न करते है। उनके लिए प्रथमत: तो मै यह कहना चाहूगी कि शरीर मे रस, रक्त की जितनी आवश्यकता है, उतनी मास की आवश्यकता नही है। वे लोग जो मेद और मास के बढ़ जाने से बहुत मोटे और गोलमटोल दिखाई पड़ते है, उनमे

अधिकांश युवावस्था की पूर्णता पर पहुचते-पहुंचते रक्ताल्पता, मधुमेह और हृदय के रोगों से पीड़ित होकर अपना सुख-चैन खो बैठते हैं। अतः मांसवृद्धि के लिए मांस को आहार बनाना सुख का नहीं, दुःख का कारण बनता है।

जहां तक मनुष्य के लिए आवश्यक प्रोटीन, वसा आदि को प्राप्त करने का प्रश्न है, वह उसे कच्ची या भुनी मूमफली, दालें, फल, ताजा सब्जिया, गेहू, जौ, कुम्हडा (सीताफल) आदि खाने से ही प्राप्त हो जाती है। कुछ सब्जियो में प्रोटीन के साथ स्टार्च का भंडार है, जो शरीर में कार्बोहाइड्रेट की कमी पूरी करता है। पत्ता गोभी में पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन है, सेम, फ्रेंचबीन, सोयबीन तो प्रोटीन और वसा दोनों के भडार हैं। इनके अतिरिक्त ताजी सब्जियों और फलो से शरीर को अनेकानेक खनिजो की भी प्राप्ति होती रहती है, जो उसके लिए आवश्यक है।

इन वनस्पतियो की अपेक्षा मास में प्रोटीन अधिक है, इसे स्वीकार करने पर भी मासाहार की उपयोगिता नही बन पाती। अन्य खनिजों के आवश्यक अनुपात की उपेक्षा करके प्रोटीन अधिक लेने से शरीर कैल्शियम को ग्रहण नहीं कर पाता। फलतः आस्टोवोरोसिस नामक रोग हो जाता है। आज मासाहार सम्पन्न समाज की एक चौथाई महिलाए इस रोग से पीड़ित है। छाती और पेट के कैसर से होने वाली मौतों की तुलना में कहीं अधिक मौते इस रोग से होती हैं। औषधि के रूप मे ऊपर से लिया जाने वाला कैल्शियम भी शरीर मे शोषित नहीं होता। फलतः स्नायु संकेतो के प्रसार, मासपेशियो और हृदय के संकोच-विकास की क्रियाओं के लिए आवश्यक कैल्शियम हड्डियों से खिंचता रहता है। परिणामतः पचास वर्ष की आयु पार करते-करते पजर की हड्डिया पचास प्रतिशत तक घिस जाती हैं। तात्पर्य यह है कि मासाहार से प्राप्त होने वाली प्रोटीन की अधिकता से शरीर में कैल्शियम का क्षरण बहुत अधिक होता है। इसकी तुलना में शाकाहारियों मे हड्डियों से कैल्शियम का क्षरण आधे से भी कम होता है।

इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि मानवशरीर कैल्शियम को तब तक ग्रहण नहीं कर पाता, जब तक आहार मे फासफोरस न हो। मास, मछली आदि मे

फासफोरस की मात्रा बहुत कम होती है, जबकि सब्जियों में कैल्शियम और फासफोरस दोनों खनिज प्रचुर मात्रा में रहते हैं। उदाहरण के लिए सलाद की पत्तियों में किसी भी मांस की तुलना में सत्तर गुना से अधिक कैल्शियम और फासफोरस रहता है।

इसके अतिरिक्त मानवशरीर में पाचन-संस्थान से सम्बन्धित अंगों की संरचना ऐसी है कि मासाहार उसके लिए स्वास्थ्यप्रद न होकर स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला, अतएव पीड़ादायी ही होगा। उदाहरणार्थ-

1. मनुष्य के गुर्दे और यकृत (जिगर) मांसाहारी जीवों के गुर्दे और यकृत के अनुपात मे छोटे होते है, इसलिए व्यर्थ मास को बाहर नहीं निकाल पाते। फलत: मनुष्य के लिए मासाहार उपयुक्त नहीं है।
2. मांसाहारी जीवो के दांत नुकीले होते है, जिससे वे मांस को खण्ड-खण्ड करके चूर्ण करते हुए खा सकते हैं। मनुष्य की दाढ़े चपटी होती है, वे मास को चबाकर महीन अर्थात् पाचन-योग्य नही बना सकती। इसलिए मनुष्य के लिए मांस कभी उचित अर्थात् स्वास्थ्यप्रद आहार नही हो सकता।
3. मास को पचाने के लिए पाचन-मस्थान मे हाइड्रोक्लोरिक एसिड की आवश्यकता होती है। मांसाहारी जीवो के पाचक अगो मे वह अपेक्षित मात्रा मे अर्थात् मनुष्य के पाचन-सस्थान की अपेक्षा दस गुना अधिक होती है। मनुष्य के पाचन सस्थान में मासाहारी जीवो की तुलना मे केवल दशाश अर्थात् 1/10 भाग हाइड्रोक्लोरिक एसिड होने से मास का समुचित पाचन नही हो सकता, इसलिए मासाहार मनुष्य को कभी अपेक्षित स्वास्थ्य नहीं दे सकता, फलत: वह रोग का कारण ही होगा।
4. मासाहारी प्राणियो की आतो की लम्बाई कम होती है, जिससे मास को सड़ने और विषाक्त होने से पहले ही उसे शरीर से बाहर फेंक देती है। मनुष्य की आंतो की लम्बाई शरीर की लम्बाई से करीब चौगुनी होती है, जिससे वे मांस को जल्दी बाहर नहीं फेंक सकतीं। फलत: आहर के रूप में ग्रहण किया गया मांस शरीर में चिरकाल तक पड़ा रहकर सड़ता

रहता है, जिससे अनेकानेक रोग, जिनमे हृदयरोग मुख्य है, उत्पन्न होकर पीड़ा के कारण बनते हैं।

5. आहार के रूप में ग्रहण किया गया मास इतने अधिक विष और तेजाब उत्पन्न करता है कि उससे मानव-शरीर की सचालन क्रिया ही बिगड जाती है, इसीलिए कोई भी मनुष्य केवल मासाहर पर डेढ़ दो सप्ताह से अधिक जीवित नहीं रह सकता। इसके विपरीत शाकाहार, जिसमे अन्न, दूध, फल और सब्जियां सम्मिलित है, पर मनुष्य मम्पूर्ण जीवन स्वस्थ और सानन्द रहता है।

फलत: निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि मासाहार के पक्ष मे पाश्चात्य-चिकित्साशास्त्रियों के तर्क पूर्णत: भ्रान्त धारणा पर आधारित है। मासाहार किसी भी अर्थ मे कल्याणकारी न होकर अविराम पीड़ा का कारण होता है।

यत: प्राणियो की हिसा किये बिना मास की प्राप्ति नही होती तथा प्राणियो की हिसा अपने मूल में ही मानसिक क्षोभ उत्पन्न करने वाली होने के कारण सुखमयी नही है, अत: मनुष्य को मासाहार का पूर्णतया त्याग करना चाहिए।[1] जो व्यक्ति आहार सम्बन्धी नियमो का, विधिविधान का पालन करता है, पिशाचो की भाति मासभक्षण नहीं करता, वह कभी रोग-ग्रसत नहीं होता, इतना ही नहीं, वह सभी प्राणियों का प्रिय हो जाता है।[2]

मनु का कथन है कि जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के मास से अपना मास बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर कोई पापी नहीं है। प्रतिवर्ष अश्वमेघ करके सौ यज्ञो द्वारा शतक्रतु (इन्द्र) पद प्राप्त करने का जो फल है, कभी भी मांस-भक्षण न करने से प्राप्त पुण्य उसके समान ही है।[3] यही कारण है कि जिस प्रकार सदा यज्ञ करने वाले व्यक्ति को, प्रतिदिन दान करने वाले व्यक्ति को तपस्वी कहा जाता है, उसी प्रकार कभी मांसाहार न करने वाले को भी उच्चकोटि का तपस्वी माना जाता है। इतना ही नही, उन (मनु) का मानना है कि मासाहार के परिहार से जो अपार पुण्यफल प्राप्त होता है, वह पुण्यफल केवल मेध्य फल कन्द-मूल अथवा मुनि-अन्न का सेवन करने से भी प्राप्त

नहीं होता।[4]

मांस शब्द भी 'माम् स:' खण्ड (अवयव) के द्वारा मानो सूचित करता है कि आज मैं जिसके मांस को खा रहा हूँ, भविष्य मे वह भी मुझे खायेगा।[5] मनु का मानना है कि जो आहार के लिए मास का अपहरण करता है, वह अगले जन्म में गिद्ध की योनि प्राप्त करता है[6] और जो हिंसा करता है, वह क्रव्याद अर्थात् राक्षस अथवा कच्चा मास खाने वाले भेड़िया आदि की योनि में जन्म लेता है।[7] जो व्यक्ति मांसाहार के लिए सिह आदि हिसक जन्तुओं का शिकार नहीं करते, परन्तु अपने सुख की कामना से भेड़, बकरा, सुअर, गौ और मृग आदि अहिंसक प्राणियों की बलि चढ़ाने के रूप मे हिसा करते है, वे भी कभी सुखी नहीं होते।[8] इसके विपरीत जो व्यक्ति प्राणियो का वध कभी नहीं करना चाहते और न कभी उन्हे बन्धन में डालने का विचार करते हैं, वे सब के प्रिय होकर निरन्तर सुख ही सुख प्राप्त करते है।[9] इतना ही नही, मन में भी हिंसा की भावना न लाने वाला व्यक्ति जो कुछ भी सोचता है, जो कुछ भी करता है या करना चाहता है अथवा निश्चय करता है, संकल्प करता है, उसे वह अविलम्ब प्राप्त कर लेता है।[1]

यदि मांसाहार हिसा के कारण ही दोषपूर्ण है, तो यह प्रश्न हो सकता है कि यदि मांस त्रिकोटि परिशुद्ध है अर्थात् जिस मास के लिए मैंने पशुवध नही किया है, न मुझे आहार देने के लिए ही पशु की हिसा की गयी है और न मेरे समक्ष पशुवध हुआ है, उस स्थिति में तो वह (मास) अभक्ष्य नही होना चाहिए। इस प्रकार के प्रश्न के समाधान के क्रम में आचार्य मनु का मानना है कि केवल वधकर्ता ही हिंसा-पाप का भागी नही होता, अपितु उसके साथ-साथ वध करने की अनुमति देने वाला, मृतपशु के मांस को खण्ड-खण्ड करने वाला, बेचने वाला, खरीदने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, खाने वाला, ये सभी आठों हिंसा करेन के भागीदार होते है।[2] योग सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने भी हिंसा के भेद-प्रभेद करते हुए यह स्वीकार किया है कि न केवल वधकर्ता हिंसाजन्य पाप का भागी होता है अपितु हिंसा के लिए प्रेरणा देने वाला और उसका समर्थन करने वाला भी समान रूप से हिंसा में भागीदार

होता है।[3]

कुछ धार्मिक सम्प्रदायों में देवता विशेष के सामने अथवा कुछ विशेष पर्वो (बकरीद आदि) पर धर्म के नाम पर पशु-वध किया जाता है। इससे वधकर्ता को पुण्य मिलता है, कल्याण की प्राप्ति होती है, ऐसा विश्वास किया जाता है और प्रसाद रूप में उस पशु का मांस खाया जाता है। जबकि महाभारत के अनुसार धर्म के नाम पर मद्य-मांस का प्रचार धूर्त, स्वार्थी और जिह्वा-लोलुप लोगों ने किया है। वेद आदि धर्मग्रन्थों में कही इसे धर्म नहीं माना गया है।[4] धर्मशास्त्रों में तो सभी कर्मो में अहिंसा की ही प्रतिष्ठा की गयी है।[5] वस्तुत: हिंसा सबसे बड़ा पाप है, सर्वविध अनर्थ का हेतु है और अहिसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है।[6]

महर्षि पतञ्जलि तो घोषणा करते हैं कि अहिंसा व्रत का सर्वतोभावेन पालन करने पर साधक के साथ हिंसक और अहिंसक सभी प्राणियों के साथ वैरभाव सम्पूर्णतया विलीन हो जाता है।[1] अहिंसा अर्थात् प्रेम की साधना के उपर्युक्त परिणाम के प्रसंग में निम्नलिखित सुविदित ऐतिहासिक कथावृत्त स्मरणीय है। पिछली शताब्दी में पश्चिमी देशों में दास (गुलाम) प्रथा दृढ़मूल होकर प्रतिष्ठित थी। दास (गुलाम) के रूप में मनुष्यों को भेड़-बकरी की भांति खरीदा और बेचा जाता था। दास यदि अपनी मुक्ति के लिए भागने का प्रयत्न करता था, तो राज-नियम के अनुसार उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। उसी काल की बात है कि रोम देश में एण्ड्रोक्लीज नाम का एक गुलाम था, जो गुलामी को मृत्यु से भी घृणित और पीड़ादायी मानता था। एक दिन अवसर पाकर वह अपने मालिक के यहां से भाग निकला। मालिक ने राजा से शिकायत की। एण्ड्रोक्लीज की खोज प्रारम्भ हुई। वह छिपने के लिए घने जंगल में भटकने को विवश हुआ। जंगल में भटकते हुए एक दिन एक सिह उसके सामने पड़ गया। सिंह झाड़ी में बैठा था, उसके मुख पर गहन पीड़ा की छाया स्पष्ट दिखायी दे रही थी और वह अपने एक पैर के पंजे को बारम्बार भूमि पर रगड़ रहा था। एण्ड्रोक्लीज ने उसे देखा, उसकी पीड़ा को पहचाना और यह भी समझ लिया कि सिंह की पीड़ा का मूल उसके एक पैर के पंजे

में है। उसका दयालु हृदय सिंह की पीड़ा से कराह उठा और वह कुछ करने के लिए बेचैन हो उठा। उसने सोचा कि मैं भागा हुआ गुलाम हूँ। अधिक सम्भावना है कि आज नहीं तो कल मैं अवश्य पकड़ा जाऊगा, उस स्थिति मे मुझे प्राणदण्ड मिलना निश्चित है। सिंह की पीड़ा दूर करने के लिए उसके पास जाने मे भी प्राणभय है किन्तु इस प्राणभय के समय पीड़ा हरने की कामना है, जो निश्चित ही पुण्यकर्म है। इस पुण्यकर्म के लिए मृत्यु आ जाए, तो कोई हानि नहीं है। यह सोचता हुआ एण्ड्रोक्लीज शेर की ओर बढ़ा, शेर मे कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। एण्ड्रोक्लीज ने शेर के पंजे को पकड़ा, ध्यान से देखा, उसमें एक बड़ा सा काटा आर-पार चुभा हुआ था। एक हाथ से उसे खींच पाना कठिन था। अत: उसने दोनों हाथों से शेर के पंजे को पकड़ा और कुछ बल लगाया, तो कांटा बाहर आ गया। शेर की पीड़ा तत्काल कुछ कम हुई। उसके पास लंगोटी के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं था। उसने लंगोटी खोली और शेर के पंजे को उससे बांध दिया, जिससे रक्तप्रवाह कम हो जाए। यह सब करके वह जंगल में आगे बढ़ गया। जंगल में भटकते हुए कुछ दिनों बाद वह सिपाहियों द्वारा पकड़ा गया।

इसी बीच एक दिन राजा शिकार खेलने गया। सिह आदि को पकड़ने के लिए पिंजरा जंगल मे लगाया गया और संयोगवंश वह शेर पिंजरे में फस गया।

राजदण्ड के लिए जब एण्ड्रोक्लीज को राजा के सामने पेश किया गया, तो राजा ने उसे मृत्युदण्ड की सजा सुनायी तथा गुलामो मे भागने की भावना को दबाने की दृष्टि से बाजार के बीच एण्ड्रोक्लीज को शिकार में पकड़े गये शेर से नुचवा डालने का आदेश दिया। इसके लिए शेर को चार दिन भूखा रखा गया। इस भयानक प्रदर्शन के लिए एक बड़ा पिंजरा बनवाया गया, जिसमे एण्ड्रोक्लीज को रखा गया और उस पिंजरे के अन्दर शेर का पिंजरा भी लाया गया। एण्ड्रोक्लीज को ही शेर के पिंजरे का द्वार खोलने का आदेश दिया गया। सभी ओर से मृत्यु को सामने देखते हुए उसने शेर के पिजरे का द्वारा खोला। परन्तु यह क्या, शेर आक्रमण करने के स्थान पर उसके पास आकर उसके पैर चाटने लगा। क्योंकि शेर ने दयालु एण्ड्रोक्लीज को पहचान लिया था। यह था

प्रेम का, अहिंसा का और दयाभाव का प्रभाव। इसी प्रकार राजा प्रसेनजित की श्रावस्ती नगरी में क्रूर डाकू अंगुलिमाल की महात्मा बुद्ध के शिष्य होने की कथा सुविदित है। कहने का तात्पर्य है कि प्रेम और अहिसा की साधना प्राणिमात्र को अन्त:करण से वैरभाव, क्षोभ और क्रोध को समाप्त करके जहा एक ओर प्रत्येक व्यक्ति को सुख-शान्ति प्रदान करती है, वहीं दूसरी ओर व्यक्तियों के समष्टिभूत समाज में वैर-विरोध से रहित, प्रेम से आप्लावित भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा कर सुमधुर समाजिक स्वास्थ्य को समृद्ध बनाती है।

प्राय: कहा जाता है कि आदिम युग में जब मानव जगली था, असभ्य था, उसे खेती करना नहीं आता था, उस समय मे वह शिकर करके ही मास से अपनी पेट पूजा करता था। किन्तु क्या आज यह आश्चर्य का विषय नही है कि एक ओर तो वह (मानव) अति सभ्य और समुन्नत होने का दम्भ भरता है और दूसरी ओर मांसाहार की उस आदिम आदत को सभ्यता, सस्कृति आधुनिकता और बड़प्पन का प्रतीक मानने के भ्रम में पड़कर मांसाहार को जोर-शोर के साथ गले लगा रहा है। मांसाहार एव हिसा के निषेध के प्रसग में ईसामसीह का कथन ध्यातव्य है। यथा-

'जो कत्ल करता है, वह अपने आप का हत्यारा है और जो मारे हुए जानवरो का मांस खाता है, वह उनके जिस्म से मौत को खाता है। उनकी मौत उसकी अपनी मौत हो जायेगी, क्योकि पाप का नतीजा मौत है। न मनुष्यों का वध करो और न जानवरों का और न ही किसी जीव को अपना आहार बनाओ, क्योकि तु अगर जीवित (शाकाहार) भोजन को अपना आहार बनाओगे, तो तुम्हें जीवन एवं शक्ति मिलेगी, लेकिन अगर तुम मृत भोजन (मांसाहार) करोगे, तो वह मृत आहार तुम्हें भी मार देगा। क्योंकि केवल जीवन से ही जीवन मिलता है और मौत से हमेशा मौत ही मिलती है। मृत भोजन तुम्हारे शरीर को भी मृत बना देगा और जो चीजें तुम्हारे शरीर को मारती हैं, वे तुम्हारी आत्मा को भी मार देगी। जैसा तुम्हारा भोजन होता है, वैसा ही तुम्हारा शरीर बन जाता है और इसी तरह जैसे तुम्हारे विचार होते हैं, वैसी ही तुम्हारी आत्मा बन जाती है।'.

बकरीद पर किये जाने वाले गोवध के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय का फैसला द्रष्टव्य है। पश्चिमी बंगाल सरकार की विशेष अपील याचिका रद्द करते हुए उच्चतम न्यायालय ने फैसला दिया है कि भारत में मुस्लिम समुदाय का बकरीद पर गोवध करना धार्मिक अधिकार नहीं है। इस निर्णय से 1979 मे दायर इस मामले पर स्वामी केदारनाथ ब्रह्मचारी तथा 27 अन्य व्यक्तियो को 23 साल बाद न्याय मिल पाया है।[1]

सक्षेप में निष्कर्ष के रूप मे मै कहना चाहूंगी कि 'जैसा खाओ अन्न वैसा हो मन' उक्ति के अनुसार निश्चित रूप से आहार मानव-जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करता है। आहार से मानव को जीवनी शक्ति तो मिलती ही है, साथ ही यह उसे प्रसन्न-दु:खी, स्वस्थ-रोगी, कृपण-उदार, क्रोधी-हंसमुख, निष्ठुर-दयावान तथा हिंसक-अहिंसक भी बनाता है। इस प्रकार भोजन का प्रभाव स्थूल शरीर से कहीं अधिक मन-मस्तिष्क पर होता है। अहिसा की भावना से प्रेरित शाकाहार का व्रत शारीरिक और मानसिक दोनो ही प्रकार के स्वास्थ्य का मूल आधार है। साथ ही अहिंसा-साधना के फलस्वरूप समाज मे जिस प्रेम की प्रतिष्ठा होती है, वह प्राणिमात्र को एक ऐसे कुटुम्ब के रूप में परिवर्तित कर देती है, जिसकी सभी इकाइयां परस्पर एक दूसरे की सहयोग बनकर 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' के महावाक्य को साकार करती हैं।

संदर्भ

1 मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनात: चित्तप्रसादनम्। -योगसूत्र 1/33

1. मनुस्मृति, 5/48, 2 मनुस्मृति, 5/50, 3. मनुस्मृति, 5/52-53, 4 मनुस्मृति, 5/54

5. मनुस्मृति, 5/55 6 मनुस्मृति 12/63, 7. मनुस्मृति 12/59, 8 मनुस्मृति 5/45

9 मनुस्मृति 5/46

90, द्वारिकापुरी
मुजफ्फरनगर

भगवान महावीर की जन्मभूमि विदेह - कुण्डलपुर

-प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन

जब भगवान महावीर के 2600 वें जन्म कल्याणंक महोत्सव वर्ष के मनाए जाने की घोषणा की गई और भारत सरकार ने उसके बहुआयामी रचनात्मक कार्यक्रमों के लिये 100 करोड़ रुपयों के आवण्टन की स्वीकृति दी, जिससे जैन समाज में सर्वत्र हर्षोल्लास छा गया। विभिन्न समितियो तथा उनके नेताओ एवं मार्ग-दर्शकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से बृहद् योजनाएँ बनाई, बजट बनाए और तदनुसार भारत सरकार से उनकी आपूर्ति हेतु अपनी-अपनी माँगे प्रस्तुत कीं। इसमें किसी के लिये विरोध करने का कोई प्रश्न ही न था।

किन्तु दु:ख तो तब हुआ, जब समारोह के मूलनायक भगवान महावीर के जन्म स्थल को लेकर ही विवाद खड़े किये जाने लगे। किसी ने नालन्दा के समीपवर्त्ती कुण्डलपुर को उनका जन्मस्थल बतलाना प्रारम्भ कर दिया, तो किसी ने मुंगेर स्थित लिछुवाण को। जब कि विदेह स्थित वैशाली-कुण्डलपुर की युगों-युगों से उनकी जन्मस्थली के रूप में मान्यता चली आ रही है। गनीमत यही रही कि किसी ने दमोह (मध्यप्रदेश) के समीपवर्ती कुण्डलपुर को उनकी जन्मभूमि घोषित नहीं किया।

प्रारम्भ मे ऊहापोह चल ही रही थी कि एक महान संस्था ने अपने एक सम्मेलन के प्रसंग में उसकी संगोष्ठी का एक ऐसा विषय रख दिया, जिसका शीर्षक था--''महावीर स्वामी की जन्मभूति कुण्डलपुर है, वैशाली नहीं''। किन्तु सम्मेलन-संगोष्ठी का उक्त विषय देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता नहीं हुई और मैने आयोजकों के उक्त विचार से अपनी असहमति जताई थी। दिनांक 26 जनवरी 2001 को मैंने एक संक्षिप्त पत्र भी लिखा था, जिसमें आचार्य गुणभद्र तथा अन्य कुछ जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों तथा पुरातात्त्विक सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए सादर निवेदन

किया था कि भगवान महावीर की जन्मस्थली विदेह स्थित (अथवा वैशाली स्थित) कुण्डलपुर ही है, और इस समय जन्मस्थली को लेकर किसी भी प्रकार के भ्रम अथवा विवाद खड़े करने से जैनेतरो तथा केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों में गलत सन्देश जाएगा, कि जैन समाज असंगठित है, जो समाज के भविष्य के लिये हितकारी नही। क्योंकि यह ऐतिहासिक तथ्य है। कि पिछले पारस्परिक विवादों ने जैन-संघ की शक्ति को बिखेर दिया है।

प्रारंभ में जैन समाज बहुसंख्यक, श्रीसमृद्ध एवं सुसंगठित होने के कारण न केवल भारत में, अपितु विदेशो में भी अत्यन्त सम्मानित एवं प्रभावक था। पिछला इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। किन्तु आज उसकी क्या स्थिति होती जा रही है?

यह तो सर्वज्ञात ही है कि ईसा पूर्व चौथी सदी मे मगध सहित समस्त पूर्व एवं उत्तर भारत में भीषण दुष्काल पड़ा था और उस कारण श्रमण धर्म एवं संघ की सुरक्षा हेतु आचार्य भद्रबाहु ससंघ अपने नवदीक्षित शिष्य मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) के साथ दक्षिण भारत गये थे। उस भीषणता में मगध एवं विदेह से निर्ग्रन्थों को स्थान-परिवर्तन के लिये बाध्य होना पड़ा था। यह विषम स्थिति आगे भी विपरीत परिस्थितियो के कारण बढ़ती रही। फिर भी किन्हीं कारणों से कुछ जैनधर्मानुयायी एवं निर्गन्थ वहाँ रह गये थे। क्योंकि सुप्रसिद्ध चीनी यात्रियों ने विदेह-वैशाली के निर्ग्रन्थों की प्रचुरता का चर्चा की है। किन्तु बाद में वे सब निर्ग्रन्थ कहाँ चले गये? क्या कभी इस तथ्य पर भी विचार किया गया है? तह मे जाकर देखें तो विदित होगा कि ईसा-पूर्व तीसरी सदी के बाद से लेकर गुप्त काल के मध्य जैन समाज पर इतर ईर्ष्यालुओं ने कितने-कितने कहर ढाए? शैवों एव शाक्तों ने जैनियों को नास्तिक कहकर "हस्तिना ताड्यमानो पि न गच्छेत् जैन मन्दिर" के नारे लगाकर दक्षिण भारत के समान ही वहाँ भीषण नरसहार किये, उनका धर्म-परिवर्तन किया गया अथवा उनको अपने देश के बाहर खदेड़ भी दिया गया। यहाँ तक कि उनके आयतनों के नामोनिशान तक भी समाप्त कर दिये गये। इन्हीं सब कारणों से परवर्ती कालों मे वैशाली-कुण्डलपुर तथा उसके भवनों, आयतनों एवं वहाँ के

श्रमण-निर्ग्रन्थों का वहाँ कोई नाम निशान भी न रहा।

प्राच्यकालीन अफगानिस्तान, तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल एव भूटान के सामाजिक इतिहास के अध्ययन से इसकी अच्छी जानकारी मिल सकती है।

इस प्रसंग में मुझे एक दुखद स्मरण आ रहा है। देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी (प्रथम राष्ट्रपति) वैशाली में महावीर स्मारक का शिलान्यास कर रहे थे। उसमें अनेक मन्त्रीगण, नेतागण, जैन समाज के प्रतिष्ठित नेतागण, प्रो. डॉ. हीरालाल जी जैन आदि उपस्थित थे। डॉ. हीरालाल जी ने स्मारक के विषय में जो प्राकृत-पद्य लिखे थे, वे उनका पाठ तथा हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे थे। सर्वत्र हर्ष का वातावरण था, किन्तु एक सज्जन, जो कि इलाहाबाद विश्व विद्यालय मे वरिष्ठ एव ख्याति प्राप्त प्रोफेसर थे, वे अपने एक साथी से कह रहे थे कि जिन नास्तिको को यहाँ से उखाड़ने एव भगाने मे सदियाँ लग गई, अब उन्हे ही फिर से यहाँ बुलाने एवं स्थापित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। वस्तुत: वे सज्जन स्थानीय ही थे। और उनके ये विचार कुछ समय तक वहाँ चर्चा के विषय भी बने रहे थे।

हमारे प्राचीन महामहिम आचार्यो को ग्रन्थ-लेखन के काल में अपने-अपने स्थलो पर जो भी प्रत्यक्ष या परोक्ष जानकारी मिली, उसके आधार पर उन्होंने भगवान महावीर के चरित का चित्रण किया। भले ही उनमे यत्किंचित् विभेद रहा हो, फिर भी अधिकांश ने एक मत से उस तथ्य की सूचना अवश्य दी कि भगवान महावीर का जन्म विदेह-देश के कुण्डपुर या कुण्डलपुर में हुआ था, यही सबसे बड़ा एवं सर्वसम्मत प्रमाण भी सिद्ध हो गया, जिसके अनुसार भगवान महावीर का जन्म विदेह में स्थित कुण्डपुर या कुण्डलपुर मे ही हुआ था। अन्यत्र नहीं। फिर भी किसी विशेष दृष्टिकोण से विशेष वर्ग द्वारा इस दीर्घकालीन मान्यता को नकारा जाने लगा है।

विदेह-देश की भौगोलिक स्थिति युगों-युगों से सुनिश्चित है और अधिक नहीं, तो भी पिछले लगभग 3 हजार वर्षो से तो वह गंगा नदी के उत्तर में ही स्थित है, जिसके साक्ष्य जैन-जैनेतर सभी साहित्य में उपलब्ध हैं। जब कि गंगा-नदी के दक्षिण में मगध देश स्थित है। इस भूगोल में भी कोई विशेष

परिवर्तन नही हुआ है। मगध-सम्राट श्रेणिक एवं अजातशत्रु के इतिवृत्त से यह भी सुनिश्चित है कि गगा के आर-पार स्थित विदेह एव मगध परस्पर मे विरोधी साम्राज्य रहे।

अब यदि मगध देशान्तर्गत नालन्दा वाले कुण्डलपुर को भगवान महावीर की जन्मस्थली मान लिया जाए, तो फिर यही मानना पड़ेगा कि भारत की चारों दिशाओ के महान साधक आचार्य पूज्यपाद (5वीं शती), आचार्य जिनसेन (8वी शती), आचार्य गुणभद्र (9वी शती), आचार्य असग (10वी शती), आचार्य पद्मकीर्ति (10वी सदी), आचार्य दामनन्दि (11वी शती), विबुध श्रीधर (12वी शती), प. आशाधर (13वी शती), महाकवि सकलकीर्ति (15वी शती), महाकवि रइधू (16वी शती), महाकवि पद्म (16वी शती) एव कवि धर्मचन्द्र (17वी शती) आदि-आदि ने भगवान महावीर की जन्मभूमि विदेह स्थित कुण्डलपुर (या कुण्डपुर) को जो बतलाया है, तद्विषयक उनका वह कथन क्या भ्रामक अथवा मिथ्या है? 20वी शती के प्रारम्भ से ही देश-विदेश के दर्जनों प्राच्य विद्याविदो एव पुरातत्व वेत्ताओ ने भी निष्पक्ष एव दीर्घकाल तक अथक परिश्रम पर विविध जैन एव जैनेतर साक्ष्यो के आधार पर विदेह स्थित कुण्डलपुर को ही भगवान महावीर की जन्मस्थली सिद्ध किया है, तो क्या उनकी ये खोजें भी अविश्वसनीय, अनादरणीय अथवा मिथ्या है?

किसी भी देश या नगर या साहित्य का प्रामाणिक इतिहास मात्र कुछ दिनो या महिनो में तैयार नही हो जाता। वह दीर्घकालीन विविध प्रमाणों के संग्रह एव उनके तुलनात्मक अध्ययन से ही सम्भव है। विदेह-कुण्डलपुर के विस्मृत इतिहास की खोज मे सदियो का समय लगा है, निष्पक्ष इतिहासकारो ने विविध तथ्यों का सग्रह कर जब उनका तुलनात्मक अध्ययन कर उसे प्रस्तुत किया है, फिर उसमे अप्रामणिकता का प्रश्न ही कहाँ उठता है? और पूर्वोक्त दिगम्बर जैनाचार्यो ने विदेह स्थिल कुण्डलपुर स्पष्ट ही घोषित किया है तो फिर मगध का कुण्डलपुर महावीर की जन्मभूमि कैसे हो सकता है, फिर भी यदि यह परिवर्तन किया जाता है, तो गंगा के उत्तर मे स्थित वैदेही सीता की भूमि--मिथिला (विदेह) आदि को भी मगध में मान लेना पड़ेगा या उन तीर्थकरो-मल्लि एवं नमि की जन्मभूमि मिथिला-विदेह को भी मगध के

अन्तर्गत मानना पड़ेगा।

यह आश्चर्य का विषय है कि कुछ सुयोग्य विद्वान् 14वी सदी के यति मदनकीर्ति या 20वीं सदी की प्रकाशित दिल्ली जैन डायरेक्टरी या 1998 मे प्रकाशित भारत जैन तीर्थदर्शन मे वैशाली-कुण्डपुर या उल्लेख न होने से उसे अपने पक्ष के समर्थन का सबल प्रमाण तो मानते हैं, किन्तु आचार्य पूज्यपाद एव गुणभद्रादि के विदेह-स्थित कुण्डलपुर सम्बन्धी उल्लेख को प्रामाणिक नहीं मानना चाहते।

एक ओर तो वे श्वेताम्बर या बौद्ध-साहित्य को मान्यता भी नही देना चाहते और दूसरी ओर वे अपने पक्ष के समर्थन में भगवती सूत्र, समवायाग-सूत्र या आवश्यक-निर्युक्ति के उद्धरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं। एक ओर तो जैनेतर विद्वानों को वे मान्यता नही देते, जबकि दूसरी ओर अपने पक्ष के समर्थन में उनकी कुछ मान्यताओं की सराहना भी कर रहे हैं। कैसा विरोधाभास है?

जिन हर्मन याकोवी प्रभृति पाश्चात्य तथा डॉ. प्राणनाथ, डॉ. आर. पी. चदा प्रभृति प्राच्य इतिहासकारो ने जैनधर्म को हिन्दु या बौद्धधर्म की शाखा मानने वालो के कुतर्कों का निर्भीकता के साथ पुरजोर खण्डन कर उसे प्राचीनतम एव स्वतन्त्र धर्म घोषित किया और हड़प्पा-सस्कृति को उससे प्रभावित बतलाया, तब उसे तो मान्यात दे दी गई किन्तु अब उन्हीं अथवा उनकी परम्परा के विद्वानों के द्वारा अन्वेषित और घोषित विदेह-कुण्डलपुर का विरोध भी किया जा रहा है। यहाँ तक कि उन्हें अज्ञानी भी कहा जा रहा है। यह भी कहा जा रहा है कि उनकी बातों को मानने से हम कुपथगामी हो जावेंगे। एक निष्पक्ष इतिहासकार के लिये ऐसा कहना कहाँ तक उचित है?

ये आदरणीय सुयोग्य विद्वज्जन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कोटिग्राम का परिवर्तन कुण्डग्राम में हो पाना असम्भव मानते हैं। यदि यही बात युक्तियुक्त है, तो फिर चन्द्रगुप्त से सेंड्रोकोट्टोस, सूतालूटी से कलकत्ता या कोलकाता, अरस्तू से अरिस्टोटल, अलेग्जेंडर से सिकंदर, उच्छकल्प से उँचेहरा, किल्ली से ढिल्ली और दिल्ली, कोटिशिला से कोल्हुआ, बकासुर से बक्सर, रतिधव से रइधू, त्यागीवासः से चाईवासा, कलिंग से उड़ीसा, चन्द्रवाडपट्टन से

चदवार, गोपाचल से ग्वालियर, आरामनगर से आरा, कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र से पटना, सिंहल से श्रीलंका तथा सिलोन के परिवर्तित नाम भी सही नहीं माने जाने चाहिये क्योंकि उन समादरणीय विद्वानों की दृष्टि से Proper Noun मे कोई परिवर्तन ही नहीं हो सकता।

ईसा-पूर्व दूसरी सदी में कलिग के जैन चक्रवर्ती सम्राट खारवेल का उल्लेख यदि जैन साहित्य में कहीं नहीं मिलता और अजैन इतिहासकारों ने उसके शिलालेख की अथक खोज कर सम्राट खारवेल के जैनधर्म सम्बन्धी बहुआयामी कार्य-कलापों की विस्तृत चर्चा की और इसके साथ ही अन्धकारयुगीन प्राच्य भारतीय इतिहास के लेखन के लिये डॉ. आर. डी. बनर्जी ने उसे प्रथम प्रकाश-द्वार घोषित किया, तो क्या इस गहन खोज के लिये भी केवल इसीलिये नकार दिया जाय, क्योकि प्राचीन जैन साहित्य में उसका कही भी उल्लेख नही मिलता और वह केवल जैनेतर इतिहासकारो की खोज एव प्रारम्भ मे उन्ही के द्वारा उसका किया गया मूल्याकन प्रकाश मे आया है।

वस्तुत: लच्छेदार-भाषा मे अपने इतिहास-विरुद्ध भ्रामक विचारो को प्रस्तुत करना शब्दो की कलाबाजी का प्रदर्शन मात्र ही है। इससे प्राचीन इतिहास भ्रम के कुहरे मे कुछ समय के लिये भले ही धूमिल पड़ जाए, किन्तु उसके शाश्वत रूप को कभी भी मिटाया नही जा सकता।

नालन्दा स्थित कुण्डलपुर को जन्म-स्थली मानने वाले हमारे कुछ आदरणीय विद्वान् अपने ही प्राचीन दिगम्बराचार्यो के कथन को तोड़-मरोड़ कर तथा उनके भ्रामक अर्थ करके उनके वास्तविक इतिहास को अस्वीकार कर समाज में भ्रम उत्पन्न कर रहे है। उन्होंने श्वेताम्बर साहित्य, बौद्ध-साहित्य एव पुरातात्विक प्रमाणो को भी अप्रामाणिक घोषित कर शंखनाद किया है कि उनकी मान्यता मानने वाले "अज्ञानी" हैं तथा आगम-विरोधी। इसी क्रोधावेश में वे उन पर कही कोई कोर्ट-केस भी दायर न करे दे?

विदेह-वैशाली स्थित कुण्डलुपर को भगवान महावीर की जन्म स्थली सिद्ध करने वाले अनेक सप्रमाण लेख "भगवान महावीर स्मृति-तीर्थ-समारिका (पटना), वर्धमान महावीर स्मृति ग्रन्थ (दिल्ली), जैन सन्देश (मथुरा)

समन्वयवाणी (जयपुर), प्राकृत-विद्या का वैशालिक महावीर विशेषाक (दिल्ली) जैन बोधक, मराठी, (बम्बई) आदि में प्रकाशित हो चुके हैं, अत: उन्ही प्रमाणों को इस निबन्ध में भी प्रस्तुत करना पुनावृत्ति मात्र ही होगी। मेरी दृष्टि से यदि विद्वद्गण विदेह-देश तथा उसकी प्राच्यकालीन अवस्थिति पर बिना किसी पूर्वाग्रह के गम्भीतापूर्वक विचार कर लें तो सभी के समस्त भ्रम अपने आप ही समाप्त हो जावेंगे।

विदेह-कुण्डपुर या कुण्डलपुर के समर्थन में जैन-सन्देश (मथुरा) में अभी हाल मे अ. भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्रीमान् साहू रमेशचन्द जी (दिल्ली) ने विविध प्रमाणों के साथ अपने सुचिन्तित विचार प्रकाशित किये ही है। अत: यहाँ अधिक लिखना अनावश्यक मानता हूँ।

कोई भी विचारशील व्यक्ति इसका विरोध कभी भी नहीं कर सकता कि किसी भी तीर्थभूमि का विकास न हो, या वहाँ पर कोई नया निर्माण-कार्य न हो। वस्तुत: ये सब कार्य तो होने ही चाहिये किन्तु वहाँ के इतिहास को बदल कर नही तथा दूसरो को "अपराधी" जैसे असंवैधानिक शब्दो के प्रयोग करके नही। क्योंकि क्रोधावेश, पूर्वाग्रह पूर्वक एवं इतर-साक्ष्यो को बिना किसी परीक्षण के ही दोषपूर्ण कह देना ये निष्पक्ष-विचारको के लक्षण नहीं।

आक्रोश दिखाने से इतिहास नहीं बनता, वह धनराशि की चमक दिखाने से भी नही बनता, पूर्वाचार्यो के कथन को तोड़-मरोड़कर नई-नई व्याख्याएँ करने से परम्परा एव इतिहास में विकृति आती है। बड़े-बड़े खर्चीले सुन्दर ट्रेक्ट्स तथा सचित्र कीमती पोस्टरों के प्रचार से भी इतिहास नही बनता, पूर्वाग्रहों से भी सर्वमान्य प्रामाणिक इतिहास नहीं बन सकता, वह तो बनता है दीर्घकालीन बहुआयामी तुलनात्मक अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से तथा समता वृत्ति पूर्वक सभी उपलब्ध साक्ष्यों के निष्पक्ष अध्ययन, मनन चिन्तन तथा लेखन से।

-बी-5,40 सी सैक्टर 34
नोएडा-201301

56/3-4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

1 श्री सम्मेद-शिखर चालीसा 1

2 "आदिपुराण में राजनीतिक विचारो की अभिव्यञ्जना" -श्रीमती मजु जैन 5

3 भारतीय जैन कला में प्रतिमा एव मूर्तिकला (डॉ.) श्रीमती मीनाकुमारी 15

4 क्या बद्ध कर्मों में परिवर्तन सभव है? डा आराधना जैन 22

5 जैन कर्म सिद्धान्त में अनेकान्त -श्री अशोककुमार जैन 27

6 नैष्ठिक श्रावक एक अनुचिन्तन डॉ जयकुमार जैन 42

7 प्राचीन भारत मे गुप्तचर-व्यवस्था डॉ मुकेश बसल 60

8 जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप और उसके भेद डॉ कपूरचन्द जैन 68

9 ध्यान-ध्याता-ध्येय (डा.) श्रीमती राका जैन 77

10 जैन अनुशासन के मूल तत्त्व -श्री रखा जैन 87

11 समयसार मे 'स्फटिकमणि' का दृष्टान्त डा अनेकान्त कुमार जैन 98

12 जैन इतिहास लेखन की आवश्यकता -डा विजयकुमार जैन 101

13 पदार्थों का त्रिलक्षणात्मक एव त्रिपादत्मक स्वरूप और स्व-समय प्रवृत्ति डॉ गजेन्द्रकुमार जैन 105

14 कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता -प्राचार्य (प) निहालचन्द जैन 121

वर्ष-56, किरण-3-4
जुलाई-दिसम्बर 2003

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता
प. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/

इस अक का मूल्य 10/

सदस्यो व मंदिरो के लिए नि:शुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

भक्ति से मुक्ति

भक्ति में आपार शक्ति है। संसार रूपी समुद्र में भटकते हुए, दुःखों से त्रस्त प्राणी इसी शक्ति के द्वारा परमपद-मोक्ष तक को प्राप्त कर लेता है। परन्तु भक्तिमार्ग की प्रेरणा देने वाला निमित्त भी अनिवार्य है। श्री सम्मेद शिखर चालीसा ऐसी ही भक्ति रचना है।

—पद्मचन्द्र शास्त्री

श्री सम्मेद-शिखर चालीसा

।। दोहावली ।।

शाश्वत तीरथराज का, है यह शिखर विशाल।
भक्ति-भाव से मैं रचूँ, चालीसा नत भाल।।

जिन-परमेष्ठी सिद्ध का, मन में करके ध्यान।
करूं शिखर-सम्मेद का, श्रद्धा से गुण-गान।।

कथा शिखर जी की सदा, सुख-संतोष प्रदाय।
नित्य-नियम इस पाठ से, कर्म-बंध कट जाय।।

आए तेरे द्वार पर, लेकर मन में आस।
शरणागत को शरण दो, नत हैं 'शकुन-सुभाष'।।

।। चौपाई ।।

जय सम्मेद शिखर जय गिरिवर, पावन तेरा कण-कण प्रस्तर।।
मुनियों के तप से तुम उज्ज्वल, नत मस्तक हैं देवों के दल।।1।।
जिनराजों की पद-रज पाकर, मुक्तिमार्ग की राह दिखाकर।
धन्य हुए तुम सब के हितकर, इन्द्र प्रणत शत शीश झुकाकर।।2।।

तुम अनादि हो, तुम अनंत हो, तुम दीवाली, तुम बसंत हो।
मोक्ष-मार्ग दर्शाने वाले, जीवन सफल बनाने वाले।।3।।
श्वास-श्वास में भजनावलियाँ, वीतराग भावों की कलियाँ।
खिल जाती हैं तब बयार से, मिलता आतम सुख विचार से।।4।।
नंगे पैरों शुद्ध भाव से, वन्दन करते सभी चाव से।
पुण्यवान पाते हैं दर्शन, छुटें नरक पशु गति से बंधन।।5।।
स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ाते, निज पर की पहचान बनाते।
ध्यान लगाते, कर्म नशाते, वे सब जन ही शिव पद पाते।।6।।
अरिहंतों के शुभ वन्दन से, सिद्ध प्रभू के गुण-गायन से।
ऊंचे शिखरों से अनुप्राणित, क्षेत्रपाल से हो सम्मानित।।7।।
हर युग में चौबिस तीर्थंकर, ध्यान-लीन हो इस पर्वत पर।
सब-के-सब वे मोक्ष पधारे, अगणित मुनि-गण पार उतारे।।8।।
काल-दोष से वर्तमान में, आत्मलीन कैवल्य ज्ञान में।
चौबीसी के बीस जिनेश्वर, मुक्त हुए सम्मेद शिखर पर।।9।।
इन्द्रदेव के द्वारा चिन्हित, पद-छापों से टोंकें शोभित।
तप-स्थली है धर्म-ध्यान की, सरिता बहती आत्म-ज्ञान की।।10।।
तेरा संबल जब मिलता है, हर मुरझाया मन खिलता है।
टोंक-टोंक तीर्थंकर गाथा, श्रद्धा से झुक जाता माथा।।11।।
प्रथम टोंक गणधर स्वामी की, व्याख्या कर दी जिनवाणी की।
धर्म-भाव संचार हो गया, चिन्तन से उद्धार हो गया।।12।।
ज्ञानकूट जिन-ज्ञान अपरिमित, कुन्थनाथ तीर्थंकर पूजित।
श्रद्धा भक्ति विवेक पवन में, मिले शान्ति हर बार नमन में।।13।।
मित्रकूट नमिनाथ शरण में, गुंजित वातावरण भजन में।
नाटक कूट जहां जन जाते, अरहनाथ जी पूजे जाते।।14।।
संबल कूट सदा अभिनंदित, मल्लिनाथ जिनवर हैं वंदित।
मोक्ष गए श्रेयांस जिनेश्वर, संकुल कूट सदा से मनहर।।15।।
सुप्रभ कूट से शिव पद पाकर, वंदित पुष्पदंत जी जिनवर।
मोहन कूट पद्मप्रभु शोभित, होता जन-जन का मन मोहित।।16।।

आगे पूज्य कूट है निरजर, मुनि सुव्रत जी पुजें जहाँ पर।
ललित कूट चन्दा प्रभु पुजते, सब जन पूजन-वन्दन करते।।17।।
विद्युतवर है कूट जहाँ पर, पुजते श्री शीतल जी जिनवर।
कूट स्वयंभू प्रभु अनंत की, वन्दन करते जैन संत भी।।18।।
धवलकूट पर चिन्हित हैं पग, संभव जी को पूजे सब जग।
कर आनन्द कूट पर वन्दन, अभिनन्दन जी का अभिवन्दन।।19।।
धर्मनाथ की कूट सुदत्ता, पुजती है जिसकी गुणवत्ता।
अविचल कूट प्रणत जन सारे, सुमतनाथ पद-चिन्ह पखारे।।20।।
शान्ति कूट की शान्ति सनातन, करते शान्तिनाथ का वन्दन।
कूट प्रभास वाद्य बजते हैं, जहाँ सुपारस जी पुजते हैं।।21।।
कूट सुवीर विमल पद-वन्दन, जय-जय कारा करते सब जन।
अजितनाथ की सिद्ध कूट है, जिनके प्रति श्रद्धा अटूट है।।22।।
स्वर्ण कूट प्रभु पारस पुजते, झाँझर-घंटे अनहद बजते।
पक्षी तन्मय भजन-गान में, तारे गाते आसमान में।।23।।
तुम पृथ्वी के भव्य भाल हो, तीन लोक में बेमिसाल हो।
कट जायें कर्मों के बन्धन, श्री जिनवर का करके पूजन।।24।।
हे! सम्मेद शिखर बलिहारी, मैं गाऊँ जयमाल तिहारी।
अपने आठों कर्म नशाकर, शिव पद पाऊँ संयम धरकर।।25।।
तुमरे गुण जहान गाता है, आसमान भी झुक जाता है।
है यह धरा तुम्हीं से शोभित, तेरा कण-कण है मन मोहित।।26।।
भजन यहाँ गाती हैं टोली, जिनवाणी की बोली, बोली।
तुम कल्याण करत सब जग का, आवागमन मिटे भव-भव का।।27।।
नमन शिखर जी की गरिमा को, जिन वैभव को, जिन महिमा को।
संत-मुनी अरिहंत जिनेश्वर, गए यहीं से मोक्ष-मार्ग पर।।28।।
भक्तों को सुख देने वाले, सब की नैया खेने वाले।
मुझको भी तो राह दिखाओ, भवसागर से पार लगाओ।।29।।
हारे को हिम्मत देते हो, आहत को राहत देते हो।
भूले को तुम राह दिखाते, सब कष्टों को दूर भगाते।।30।।

काम-क्रोध-मद जैसे अवगुण, लोभ-मोह जैसे दुख दारुण।
कितना त्रस्त रहा मैं कातर, पार करा दो यह भव-सागर।।31।।
तुम हो सब के तारण हारे, ज्ञान-हीन सब पापी तारे।
स्वयं तपस्या-लीन अखंडित, सिद्धों की गरिमा से मंडित।।32।।
त्याग-तपस्या के उद्‌बोधक, कर्म-जनित पीड़ा के शोधक।
ज्ञान बिना मैं दष्टि-हीन-सा, धर्म बिना मैं त्रस्त दीन-सा।।33।।
तुम हो स्वर्ग-मुक्ति के दाता, दीन-दुखी जीवों के त्राता।
मुझे रत्नत्रय मार्ग दिखाओ, जन्म-मरण से मुक्ति दिलाओ।।34।।
पावन पवन तुम्हारी गिरिवर, गुंजित हैं जिनवाणी के स्वर।
अरिहंतों के शब्द मधुर हैं, सुनने को सब जन आतुर हैं।।35।।
तुम कुन्दन, मैं क्षुद्र धूलिकण, तुम गुण-सागर, मैं रीतापन।
पुण्य-धाम तुम, मैं हूँ पापी, कर्म नशा दो धर्म-प्रतापी।।36।।
तेरी धूल लगाकर माथे, सुरगण तेरी गाथा गाते।
वातावरण बदल जाता है, हर आचरण सँभल जाता है।।37।।
तुम में है जिन टोंकों का बल, तुम में धर्म-भावना निर्मल।
दिव्य वायुमंडल जन-हित का, करदे जो उद्धार पतित का।।38।।
मैं अज्ञान-तिमिर में भटका, इच्छुक हूँ भव-सागर तट का।
मुझको सम्यक्-ज्ञान करा दो, मन के सब संत्रास मिटा दो।।39।।
तुम में है जिनवर का तप-बल, मन पर संयम होता हर पल।
नित्य शिखर जी के गुण गाऊँ, मोक्ष-मार्ग पर बढ़ता जाऊँ।।40।।

।। सौरठा ।।

श्रद्धा से, मन लाय
जो यह चालीसा पढ़े।
भव सागर तिर जाय
कर्म-बन्ध से मुक्त हो।।

(इति श्री सम्मेद शिखर चालीसा सम्पूर्ण)

"आदिपुराण में राजनीतिक विचारों की अभिव्यञ्जना"

–श्रीमती मंजु जैन

आदिपुराण जैनागम मे प्रथमानुयोग का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है। यह जिनसेनाचार्य की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमे प्रमुखत· तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवन चरित्र का वर्णन है। यद्यपि जिनसेनाचार्य इसे महापुराण का रूप देकर अन्य महापुरूषो के जीवन चरित्र का भी वर्णन करना चाहते थे लेकिन ग्रथ के रचनाकाल के बीच मे ही वे देवगति को प्राप्त हुए एवं उनके अधूरे कार्य को आचार्य गुणभद्र ने पूरा किया।

समुद्र के समान इस गभीर रचना का समय 8-9 वी शताब्दी है। इसमें 17 पर्व है जिसमें प्रारम्भ के 12 पर्व तथा तैतालीसवे पर्व के 3 श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं। शेष पर्व व 1620 श्लोक गुणभद्राचार्य द्वारा रचित हैं।

आदिपुराण महापुराण है। स्वय जिनसेनाचार्य के शब्दो मे यह प्राचीनकाल से प्रचलित होने से पुराण है। तीर्थंकर आदि महापुरुषो का उपदेश एव कल्याणकारी होने से यह महापुराण है। इसमे धर्म है, मुक्ति का पद है, कविता है एव तीर्थंकरो का चरित्र है।

आदिपुराण सस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मकथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीति शास्त्र है, आचार शास्त्र है तथा युग की आद्य व्यवस्था को बतलाने वाला महान इतिहास है। इसमे लगभग सभी विषयो का प्रतिपादन किया गया है।

आदिपुराण मे भगवत् जिनसेनाचार्य ने राजनीतिक सिद्धातो की सर्वोत्तम व्याख्या की है। सम्राट भरत छ खण्ड की दिग्विजय के पश्चात् आश्रित राजाओं को जिस राजनीति के पालन का उपदेश देते है एव ऋषभदेव सम्राट

भरत के राज्य भार संभालते समय जिस कल्याणकारी राजनीति को समझाते हे और भरत् प्रजा के हित को सर्वोपरि रख शासन करने की शपथ लेते हैं उस आधार पर यदि आज राज्य व्यवस्था कामय हो तो सर्वत्र सुख व शांति छा जाय और दुःख व अशांति के काले मेघ क्षत-विक्षत हो जायें।

आदिपुराण में वर्णित राजनीति अहिंसा पर आधारित है। वहाँ प्रजा का हित ही राज्य का सर्वोपरि लक्ष्य है। भरत व ऋषभदेव ने बताया "स्वय जीवो और दूसरों को भी जीवित रहने दो", "सबके जीवन जैसे सफल बने वैसे परस्पर सहायक बनो।" इस शिक्षा में समष्टि का हित गर्भित था। अतः आदिपुराण की राजनीति का प्रथम व सर्वोपरि उद्‌देश्य जनहित व प्रजापालन था।

> **"प्रजानां हितकृद्‌भूत्वा भोग भूमि स्थिति च्युतौ,**
> **नाभिराजस्तादोद्‌भूतो भेजे कल्पतरू स्थितम्"[1]**
> **"जनहित प्रजानां जीवनोपायमननात्मनवो मताः"[2]**

प्रजा का हित चाहने वाले नाभिराय हुए इसीलिये वे कल्पवृक्ष की स्थिति को प्राप्त हुए अर्थात् वे कल्पवृक्ष के समान प्रजा का हित करने थे। वे प्रजा के जीवन का उपाय जानने से मनु कहलाये।

राजा वृषभदेव ने प्रजा का कल्याण करने वाली आजीविका का उपाय सोचकर, उसे बार-बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ।[3]

इस प्रकार जनहित एवं सर्वोदयी भावना शासन-व्यवस्था का सर्वप्रथम लक्ष्य है। इसी कारण से राजा को न्याय प्रिय होना भी बहुत आवश्यक है। राजा अनीति अथवा अन्याय का अवलम्बन न ले इसके लिये वह प्रतिबंधित था। यदि वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है या जनहित से भटक जाता है तो वह धर्मभ्रष्ट एव अन्यायी हो जाता है और राजा कहलाने के अयोग्य हो जाता है।

भरत दिग्विजय करके राजाओं को शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करो। यदि अन्याय में प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्ति का लोप हो जावेगा।"[4]

"इस (न्यायप्रिय) राजवृति का अच्छी तरह से पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोड़कर प्रजा के साथ न्यायमार्ग से बर्ताव करो।"[5] "वह न्याय दो प्रकार का है (1) दुष्टों का निग्रह (2) शिष्ट-पुरूषों का पालन। यही क्षत्रियों का सनातन धर्म है।"[6] "जो राजा धर्म का पालन करता है वह धर्म विजयी होता है जिसने अपनी आत्मा को जीत लिया है एवं न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है वही पृथ्वी को जीत सकता है।"[7] न्यायपूर्वक बर्ताव करने से इस संसार में यश का लाभ होता है। महान वैभव के साथ पृथ्वी की प्राप्ति होती हैं। परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अनुक्रम से वह तीनों लोकों को जीत लेता है।"[8]

"इस प्रकार भरत प्रजापालन की रीतियों के विषय मे राजाओं को बार-बार शिक्षा देते हैं तथा योग व क्षेम का चिन्तवन करते हुए स्वयं भी उसका पालन करते हैं।"[9]

ऋषभदेव पुत्र भरत को कहते हैं, "हे पुत्र! तुझे प्रजापालन करने में न्याय रूप धन से युक्त होना चाहिये अर्थात् तू न्याय को ही धन समझ क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की गई प्रजा सर्व मनोरथो को पूर्ण करने वाली कामधेनु गाय के समान होती है।"[10] "हे पुत्र! तू इसे ही राजवृत तथा राजाओं का कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन कमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना, तीर्थ-स्थान तथा योग्य पात्रों में दान देना।"[11]

"प्रजा का पालन करने के लिये अपनी बुद्धि की रक्षा करनी चाहिये। वृद्ध व अनुभवी पुरूषों की संगति कर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र के ज्ञान से अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत बनाओ। यदि राजा इसके विपरीत प्रवृत्ति रखेगा तो वह हित तथा अहित का जानकार न होने से बुद्धि से भ्रष्ट हो जावेगा तथा कुमार्गगामियों के वश हो जावेगा।"[12]

प्रजा का पालन करने मे राजा को ग्वाले की तरह होना चाहिये। जिस

प्रकार ग्वाला आलस्य रहित होकर बड़े प्रयत्न से गायों की रक्षा करता है। उसी प्रकार राजा को भी आलस्य रहित हो बड़े ध्यान से प्रजा के हितो की रक्षा करनी चाहये।[15]

अतः राजा को प्रजा का हित ध्यान में रखना आवश्यक है। साथ ही साथ वह न्यायप्रिय भी होना चाहिये। उसमें पालक के गुण मौजूद होने चाहिये। यह कहावत प्रसिद्ध है कि "यथा राजा तथा प्रजा" जैसा राजा होगा वैसी प्रजा भी होगी। अतः राजा को न्यायप्रिय होना चाहिए। भ्रष्टाचारी व दुराचारी नहीं होना चाहिये।

भरतजी कहते हैं, "दुःखी प्रजा की रक्षा करने में नियुक्त आप लोगों का धर्म योग व क्षेम का है" अर्थात् जनता के लिये नवीन वस्तु की प्राप्ति एवं पुरानी की रक्षा करना राजा का परम धर्म है। वह धर्म पांच प्रकार का है (1)कुलपालन (2) बुद्धिपालन (3) अपनी रक्षा (4) प्रजा की रक्षा (5) समंजसपना। प्रजा दो प्रकार की है (1) प्रजा की रक्षा करने वाली प्रजा (2) जिसकी रक्षा की जाय, वह प्रजा। अपनी, कुल की एवं बुद्धि की रक्षा करने में धर्म ही उत्तम साधन है और प्रजा की रक्षा में भी धर्म व न्यायप्रियता का होना आवश्यक है।

राष्ट्र की रक्षा व विकास समुचित हो इसके लिए जनता को तीन वर्गो में बांटा गया। इस वर्गीकरण में गुणों की प्रधानता थी। जनता में सेना (Army), अर्थ (Finance), तथा श्रम (Labour) का वर्गीकरण समुचित होना आवश्यक है। इन तीनों का निर्माण अहिंसा के सिद्धांत पर होना चाहिये। राष्ट्र के अंग-अंग में इन तीनों की समता व सामर्थ्य होना ही चाहिये।

अतः जहाँ मानव में वीरता व साहस की भावना देखने को मिली वह सैन्य वर्ग या क्षत्रिय वर्ग कहलाया। जिन मनुष्यों में बुद्धि तथा साहस के साथ संचय की भावना पायी गई वह वैश्य वर्ग कहलाया, उस पर अर्थ सम्पन्नता का भार डाला गया। उनका कर्त्तव्य न्यायपूर्वक अर्थ कमाकर एवं संचय कर राष्ट्र को समृद्धशाली बनाना था। शेष मानव श्रम भार वहन करने के लिये स्वतंत्र था।

इस प्रकार का राष्ट्र का वर्गीकरण राजनीति को शक्तिशाली बनाने के निमित्त हुआ।

"उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनाधि वेदसाः, क्षत्रिय वणिजः शूद्रा क्षतत्राणादिर्मुगुणैः।"[15]

राज्य को शक्तिशाली बनाने के निमित्त ही भारत देश में (तत्कालीन भरत क्षेत्र) अनेक नगरों, जनपदों, गाँवों की स्थापना हुई और प्रत्येक का एक-एक शासक नियुक्त हुआ।"

"तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन, सीमा सहित गाँव और खेडो आदि की रचना की गई।"[16] "सुकोशल, अवन्ती, पुण्डु, कुरू, काशी, कलिंग, अंग, बंग आदि देशों की रचना की गई।"[17]

गॉव बसाने के लिये और उपभोग करने वालों के लिये योग्य नियम बनाना, नवीन वस्तु के बनाने (योग) तथा पुरानी वस्तु (क्षेम) की रक्षा के उपाय के लिये 'हा' 'मा' 'धिक' की दण्ड व्यवस्था, लोगों से काम करवाना, जनता से कर वसूल करना यह सब राजाओं के अधीन था। इस प्रकार जनता की रक्षा, उत्पादन में वृद्धि व विकास, दण्ड व न्याय व्यवस्था राजाओं व शासकों द्वारा की जाती थी।

राज्य की व्यवस्था के लिये योग्य धन कैसे मिले इसके लिये कर निर्धारण की व्यवस्था भी शासकों द्वारा लागू की जाती थी। लेकिन टैक्स की वसूली जनता को बिना पीड़ा दिये होनी चाहिये। जैसे दूध दुहने वाली गाय से, बिना पीड़ा दिये दूध दुहा जाता है, उसी प्रकार जनता से कर वसूल किया जाना चाहिये ताकि कर का बोझ जनता पर लादने की नौबत न आये। जनता आसानी से तथा सहजता से कर अदा कर सके। वर्तमान में कर-व्यवस्था एक भार है जनता को कर से इतना अधिक दबा दिया गया है कि अर्थव्यवस्था पंगु बनकर रह गयी है। उसमें गरीब अधिक गरीब तथा अमीर अधिक अमीर बनता चला जा रहा है। आदि पुराण में वर्णित कर व्यवस्था के अनुकूल वर्तमान में दैनिक उपभोग की वस्तुओं पर कर नहीं लगाया जाना चाहिये। हाँ,

आरामदेह (Luxery Items) वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाया जा सकता है।

आचार्य जिनसेन ने शासक को अहिंसा के आसन पर आरूढ़ करा है। राजनीति में हिंसा का पुट नहीं होना चाहिये। भरत क्षेत्र के जनपद में आर्य थे साथ ही कुछ उद्‌दण्ड प्रवृत्ति के लोग (अनार्य) भी थे। उस समय यदि शासन सत्ता को केन्द्रीभूत न किया जाता तो राजनीति में संभवतः खून की नदियाँ बहतीं। फलस्वरूप अहिंसामय राजनीति एवं संस्कृति का उदय नहीं हो पाता। राष्ट्र के विकास के लिये सम्राट भरत ने शक्ति को केन्द्रीभूत किया। वैसे तो सभी स्वाधीन व स्वतंत्र थे लेकिन अहिंसक संस्कृति की अभिवृद्धि के लिये प्रत्येक शासक को सम्राट की सत्ता स्वीकार करनी होती थी। भरत की षटखण्ड की विजय धर्मपूर्ण थी और लोकोपकार की भावना से अभिप्रेत थी। सभी स्वाधीन थे लेकिन उद्‌दण्ड बनकर हिंसक बनने और दूसरे के अधिकार छीनने के लिये स्वतंत्र नहीं थे।

युद्ध की नीति एवं विदेश नीति भी अहिंसक थी। युद्ध को टालने का प्रयास किया जाता था। सर्वप्रथम तो युद्ध निहित स्वार्थो के लिये, नहीं लड़ा जाता था जनहित के लिए लड़ा जाता था। उसमें भी युद्ध को टालने का प्रयास किया जाता था, फिर भी जनता के हित में लड़ना पड़े तो खूनी संघर्ष नहीं होकर अहिंसक युद्ध ही होता था। जैसा कि भरत व बाहुबली के बीच हुआ। देशों को, शत्रु देशों से शांति समझौता या संधि करनी चाहिये। "युद्ध को टालने का ही प्रयत्न करें क्योंकि युद्ध जन-हानि एवं माल-हानि का कारण है। युद्ध का भविष्य भी बुरा है (अवनति का कारण है) अतः संधि समझौता करना चाहिये।"[18]

वर्तमान युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शांति व समझौतों पर ही आधारित होनी चाहिये ताकि भविष्य में विश्व युद्ध एवं उससे होने वाले भीषण नरसंहार से बचा जा सके।

राजनीति का संरक्षण उचित दण्ड विधान से हो सकता है। यदि राजनीति अहिंसक होगी तो उसकी दण्ड-संहिता भी अहिंसक होनी चाहिये। भटका हुआ

उद्‌दण्ड मनुष्य प्रेम से सुधर सकता है। जिस प्रकार बालक को प्रेम से सुधारा जा सकता है उसी प्रकार अपराधी मनुष्य को भी सुधारा जा सकता है। अहिंसक राजनीति मानव के हृदय में विश्व प्रेम की गंगा बहाती है। मानव को सन्मार्गी बनाती है।

"जो राजा दुष्ट व मित्र सभी को निरपराध बनाने की इच्छा रखता है वह मध्यस्थ रह कर सब पर समान दृष्टि रखता है। इस संमजसत्व गुण से न्यायपूर्वक आजीविका करने वाले शिष्ट पुरूषों की रक्षा तथा अपराध करने वाले दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिये।"[19] "प्रजा में कोई अपराध करता है तो उसके अनुरूप दण्ड देना चाहिये न कि कठोर दण्ड।"[20] "कठोर दण्ड देने वाला राजा प्रजा को उद्विग्न कर देता है प्रजा ऐसे राजा को छोड़ देती है।"[21]

"समस्त प्रजा को समान रूप से देखना चाहिये यह राजा का समंजसत्व गुण कहलाता है। दण्ड विधान में क्रूरता व घातकपना नहीं होना चाहिये न ही कठोर वचन बोलने चाहिये और न ही दण्ड की कठोरता ही होनी चाहिये।"[22]

अपराधिक प्रवृत्ति वालों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई जिसमें 'हा' 'मा' 'धिक' की उत्तरोत्तर कठोर दण्ड व्यवस्था थी। यह वाचनिक दण्ड विधान था। उस समय व्यक्ति इतने में ही अपना मरण समझता था। आज की दण्ड-संहिता अति कठोर है फिर भी वह मानव में सुधार नहीं ला पा रही है।

भरत के समय में लोग अधिक अपराध करने लगे थे। तब वध, बंधन एवं शारीरिक बंधन की दण्डनीति भी चलायी गयी।

"तत्राद्यै पंचमिनृणां कुलकुद्भिः कृतागसाम् हाकार लक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तरा।"[23]

"हमाकारश्च दण्डोऽन्यैः, पंचमि संप्रवर्तितः पंचमिस्तु ततः शैषौर्धमाधिक्कार लक्षणः"[24]

"शरीर दण्डनं चैव वध, बन्धनादि लक्षणम् नृणां प्रबल दोषाणां भरतेन् निदोनितम्।"[25]

जो व्यक्ति (अपराधी) प्रजा को सताये व लूटमार करे उसके लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। उसकी संपत्ति जब्त करने का प्रावधान भी रखा गया।

"राजा को चाहिये कि वह चोर, डाकू आदि की आजीविका जबरन नष्ट कर दे क्योंकि कांटों को दूर करने से ही प्रजा का कल्याण होता है।"[26]

मनुष्य की उद्दण्डता ने दण्डनीति को कठोरता का बाना पहनाया है। वध, बंधन तथा शारीरिक दण्ड में भी अहिंसक वृति का पूर्ण ख्याल रखना चाहिये। मानव की दृष्टि में व्यक्ति को लज्जित बनाना, देश..निकाला देना, व्यक्ति के हृदय में अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना दण्ड नीति का ध्येय रहा है।

आदि पुराण में शासक के गुणों की चर्चा भी की गई है। यथा–

राजा को सर्व प्रजाजनों के प्रति पक्षपात रहित होकर समंजसवृति अपनानी चाहिये। पक्षपात वृति वाला राजा अपने ही लोगों द्वारा अपमानित होता है उसे रक्षा करने वाली प्रजा के हित की रक्षा भी करनी चाहिये। जो सैन्य वर्ग देश की रक्षा करते हैं उनकी रक्षा करना राजा का प्रथम कर्त्तव्य है।

"जिस प्रकार आश्रित गायों की रक्षा करने के लिये ग्वाला भरसक प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजा भी सेना में घायल सैनिकों का उत्तम उपचार (औषधि वगैरह देना) कराकर विपत्ति का परिकार करे। सही होने पर उसे आजीविका प्रदान करे।"[27]

"पराक्रम प्रकट करने वाले एवं अच्छे योद्धाओं को अच्छी आजीविका एवं उचित सम्मान प्रदान करे। उन्हें नौकरी से न हटावे। उनके प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग न करे। युद्ध में सैनिकों के मर जाने पर उनके परिवारजनों को नियुक्त करे। उससे राजा की कृतज्ञता होती है।"[28]

राजा को अपने पद के प्रति लिप्सा का भाव नहीं होना चाहिये। समय आने पर शासन व्यवस्था का कार्यभार त्याग कर दूसरों को सौंप देना चाहिये।

"बुद्धिमान पुरुष को अपथ्य औषधि के समान राज्य का त्याग कर देना चाहिये। उसे राज्य के विषय में विरक्त हो, भोगोपभोग का त्याग कर देना चाहिये। अन्त समय में तो समस्त आडम्बर का त्याग कर सल्लेखना धारण करनी चाहिये।"[29] राजा चन्द्र गुप्त इसके जीते जागते उदाहरण हैं। उनके पश्चात् होने वालो राजाओं ने राज्य त्याग कर समाधिमरण व्रत ग्रहण नहीं किया। अतः राजा को या शासक पद पर आसीन व्यक्ति को गुणवान, शिक्षक, बुद्धिमान, विद्वान एवं न्यायप्रिय होना चाहिये। धर्मबुद्धि का धारक होना चाहिये। प्रजा के पालन में तत्पर होना चाहिये।

इस प्रकार आदिपुराण में उत्कृष्ट राजनीतिक सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है। आदिपुराण की राजनीति में जहाँ एक ओर सर्वोत्कृष्ट शासक के गुण देखने को मिलते हैं वहीं स्वयं राजनीति भी लोकोदय, राष्ट्रीयता, सर्वोदय अहिंसा एवं पक्षपात रहित भावना से ओतप्रोत है।

संदर्भ-ग्रन्थ

- आदिपुराण, प्रथम भाग, आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-1993
- आदिपुराण, द्वितीय भाग, आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-1993
- दिवाकर अभिनन्दन ग्रथ, जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, वी नि. 2473

1 तृतीय पर्व, श्लोक 206, आदिपुराण।

2 वही 3/211

3. वही 3/199 "इतिकर्तव्यता नतिमीवांस्तदार्यकान। नाभिर्नभेयमित्युक्त्वा व्याजहारः पुनः स तान।

4. वही 38/258, पार्थिवान प्रवतान् यूय न्यायैः पालयत प्रजा । अन्यायेषु प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो ध्रुवं हि व ।

5 वही 38/261, "प्रजासु वर्तितव्य भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना ।"

6. वही 38/259, "न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम्"

7 वही 38/262, "पालयेद्य इमधर्म सधर्मविजयी भवेत्। क्षमा जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविक"

8 वही 38/263, "इहैव स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः। अमुन्नाभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जय "

9. वही 38/263 "इतिभूयोऽनु शिष्यैतान् प्रजापालन संविधौ। स्वयं च पालयत्येनान् योगक्षेमा नु चिन्तनैः।"
10 वही 38/269 "त्वया न्यायधनेनाग भक्तिव्यं प्रजाधृतौ। प्रजा कामदुहा धेर्नुमता न्यायेन योजिता।"
11. वही 38/270, "राजवृतमिदंविद्धि यन्नयायेन धनार्जनम् वर्धन रक्षण चास्य तीर्थ च प्रतिपादनम्"
12. वही 38/271, 272
13 वही 42/138, 139
14. दिवाकर अभिनन्दन ग्रंथ पृ 93, 94
15. वही 16/182, 183, 184, 185, 186
16 वही 16/151, "कोसलादीन महादेशान् साकेतादिपुराणि च। सारामसीमनिगमान खेटादीश्च न्यवेशयत"।
17. वही 16/152 से 156
18. वही 42/195, 196 "जनक्षयाय संग्रामो बह्वपायो दुरूत्तर· तस्मादुपप्रदानाद्यै· सधेयोऽरि 42/196
19. वही 42/200, 201, 202
20. वही 42/140, 141
21 वही 42/142 "तीक्ष्ण दण्डोहि नृपतिस्तीव्रमुद्वेज येतप्रजा। ततोविखत प्रकृति जह्यरेनमभु प्रजा·।
22. वही 38/279, "समंजसत्वमस्येष्ट प्रजास्वविषमेक्षिता। आनृशस्यमवाग्दण्डापारूप्यादि विशेषितम्।
23 वही 3/214
24 वही 3/215
25. वही 3/216
26. वही 42/164 'प्रसह्य च तथाभूतान वृत्तिच्छेदेन योजयते। कष्टकोद्धरणेनैव प्रजाना क्षेमधारणं"।
27 वही 42/148 तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले व्रणित भद्रम् प्रतिर्कुयाद् भिषग्वर्यान्नियोऽ-यौषधसदा।
28 वही 42/158, 159, 157, 164 से 168, 150, 151
29 वही 42/121, 122

बी-116, सेठी कॉलोनी,
जैन मंदिर मार्ग, जयपुर-302004
फोन : 2605007

भारतीय जैन कला में प्रतिमा एवं मूर्तिकला

-(डॉ.) श्रीमती मीनाकुमार

जैन धर्म में मोक्ष का परम साधन कर्म का क्षय माना गया है। धर्म के नियम और सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके उसे व्यवहार में लाने को सम्यक् चरित्र कहते हैं। इस मार्ग में अनुभवसिद्धज्ञान प्राप्त करने वाले 24 तीर्थकर हुए हैं, जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष द्वारा "जिन" पद प्राप्त किया और तीर्थकर कहलाये हैं।

तीर्थ शब्द का शाब्दिक अर्थ नदी या नाला है अर्थात् जो संसार रूपी नदी को पार कर ले, तीर्थकर है। जैन-धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही करता, वह यह नही मानता कि कोई ऐसा ईश्वर है, जिसने संसार की रचना की मनुष्य; स्वयमेव अपने दुःख-सुख के लिये उत्तरदायी होता है।

श्री द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल ने बताया है– तीर्थकरों की प्रतिमाओं का प्रयोजन जिज्ञासु जैनों में न केवल तीर्थकरों के पावन-जीवन, धर्म वे प्रचार और कैवल्य प्राप्ति की स्मृति ही दिलाना था वरन् तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित पथ का पथिक बनने की प्रेरणा भी थी।

जैन तीर्थंकर-प्रतिमा का निर्माण

प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ प्रतिरूप होता हैं। प्रतिरूप से तात्पर्य समान आकृति से है। पाणिनी ने अपने सूत्र "इवे प्रति कृतो" में समरूप आकृति के लिये प्रतिकृति शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन भारत में प्रतिमा शब्द का प्रयोग वैदिक युग से ही होता चला आ रहा हैं। ऋग्वेद में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रतिमा कला का विकास वैदिक युग में हुआ था या नही यह विवादास्पद रहा है। वैदिक कालीन मूर्तिकला एवं प्रतिमा कला के उदाहरण प्राप्त नहीं होते

हैं। वैदिक काल में लोग ऐसे धर्म में विश्वास करते रहे जिसमें प्रतिमा पूजन का कोई स्थान नही था या दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वैदिक काल में मूर्तियों के लिये ऐसा पदार्थ उपयोग में न लाया जाता हो जिससे वे चिरकाल तक सुरक्षित रहतीं। कुछ विचारकों का कहना है कि वैदिक काल में व्यक्ति प्रतिमा पूजा नहीं करते थे। उनकी उपासना काल्पनिक एवं भावात्मक थी। प्रकृति के सौन्दर्य वैभिन्य एवं काल्पनिक वैचित्रय से अभिभूत प्राणी भय एवं तन्मयता के कारण प्रकृति के विभिन्न रूपों की अमूर्त देवता के रूप में उपासना करने लगा। उनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ का आश्रय लिया गया। जिसमें आहुति देते समय वे उन विशिष्ट देवों के नाम से आहुति डालते थे। डा. बोल्लेन सैन ने बताया है कि वैदिक कालीन व्यक्ति प्रतिमाओ से परिचित ही नही थे वरन् उसकी पूजा भी करते थे।

गुप्कालीन मूर्तियां हमें कला, संस्कृति और उस समय के समाज का पूर्ण अनुभव कराती हैं। कुछ संस्कृतियाँ कुछ युगों में अन्य संस्कृतियों और युगों की अपेक्षा कला, धार्मिक, सत्य और नैतिक आदर्शो की वाहिका रहीं हैं।

जैन धर्म के प्रर्वतक भगवान महावीर थे, किन्तु जैन परम्परा के अनुसार भगवान महावीर 24वें तीर्थकर हैं। इनके पहले 23 तीर्थकर हो चुके थे जो निम्नवत है :-

(1) ऋषभनाथ, (2) अजितनाथ, (3) संभवनाथ, (4) अभिनन्दननाथ, (5) सुमतिनाथ, (6) प्रद्मप्रभु, (7) सुपार्श्वनाथ, (8) चन्द्रप्रभु, (9) पुष्पदन्त, (10) शीतलनाथ, (11) श्रेयांसनाथ, (12) वासुपूज्य, (13) विमलनाथ, (14) अनन्तनाथ, (15) धर्मनाथ, (16) शान्तिनाथ, (17) कुथुनाथ, (18) अरनाथ, (19) मल्लिनाथ, (20) मुनि सुव्रंतनाथ, (21) नमिनाथ, (22) नेमिनाथ, (23) पार्श्वनाथ

जैन तीर्थकर वीतराग कहलाते हैं, इसीलिये उनकी प्रतिमायें ध्यानस्थ रूप में नग्न शरीर से पद्मासन में स्थित होती हैं, उनकी छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह होता है। श्वेताम्बर प्रतिमाओं में तीर्थकर को कच्छ पहने हुये दिखाया जाता

है।[1] तीर्थकरों की दूसरे प्रकार की प्रतिमाऐं तप का भाव व्यक्त करती हुई कायोत्सर्ग मुद्रा में होती है। वृहत संहिता में बताया गया है कि घुटने तक लटकते हाथ, छाती में श्रीवत्स का चिन्ह, तरूण-सुन्दर, प्रशान्त अर्हतदेव की प्रतिमा, सौम्य, शान्त ध्यानस्थ निर्मित होनी चाहिये।

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में निर्मित तीर्थकर प्रतिमाओं में कुछ भिन्नता होती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमा पूर्णतः नग्न होती है। और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वस्त्र होता है। उसमें गुह्या भाग नही दिखाया जाता है। ''जिन'' प्रतिमा का बैठा हुआ स्वरूप सभी तीर्थकर प्रतिमाओं में एक समान होता है। केवल उसकी पीठिका पर निर्मित लाक्षणों से उस तीर्थकर प्रतिमा की पहचान की जाती है।

जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण काल

भारतीय समाज एक ऐसा समाज था जो एक सीमा तक धर्म से प्रभावित था समाज में जाति भेद भी धर्म के ही कारण था। जिस समय चित्रों और मूर्तियों का निर्माण हुआ, उस समय कला की उन्नति के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। ब्राहमण धर्म कर्मकाण्डो से युक्त था। यज्ञ अनुष्ठान ही इसके प्रधान तत्व थे। कला की अभिवयक्ति हेतु किसी आधार का अभाव होने से विशिष्ट प्रगति न हो सकी। अतएव क्षत्रिय राजाओं ने जनता को नयी विचारधारा प्रधान की। नवीन कला का प्रादुर्भाव हुआ, जैन और बौद्ध धर्म की पुनः स्थापना हुई। इसके सिद्धान्त इतने सरल और स्वाभाविक थे कि जनता शीघ्र ही इस ओर आकर्षित होने लगी। राजाओं ने इसे राजधर्म घोषित किया। धर्म के प्रचार हेतू कला को अपना माध्यम बनाया। जिससे कलास्वरूप मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि कलाओं का श्रेष्ठतम विकास हुआ। चित्र एवं मूर्तियां कलाकार की अनुभूति, कल्पना, मौलिकता, त्याग और शक्ति की परिचायक हैं।

जैन तीर्थकरो की प्रतिमाओं का निर्माण कब से आरम्भ हुआ यह स्पष्ट

रूप से कहना असम्भव है। मुनि कान्तिसागर ने जैन साहित्य में वर्णित आर्द्र-कुमार की कथा का उल्लेख किया हैं। जिसमें वर्णित है कि वह अनार्य देश का निवासी था। मगध के राजवंश के साथ उसकी गहरी मित्रता थी। अभय कुमार ने उन्हें ''जिन'' प्रतिमा भिजवायी थी, बाद मे वह भारत आया और भगवान महावीर के पास आकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। इस सम्बन्ध में प्रभास पटल से डा. प्राणनाथ विद्यालंकार द्वारा प्राप्त नाम पत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। जिसमे लिखा है कि बेबीलोन के राजा नेबूचन्दबेजार ने रेवतगिरि के नेमिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था, उन दिनों सौराष्ट्र आन्तिरिक और बाह्य व्यापार का केन्द्र था। सम्भावना है कि विदेशी शासन यही से आया हो और अपने द्वारा पूर्व प्रेषित ''जिन'' प्रतिमा के संस्कार के कारण जीर्णोद्धार कराया हो।

मुनि कान्तिसागर ने प्राचीन जैन साहित्य में उपलब्ध विवरणों के आधार पर बतलाया है कि मगध के शासक शिशुनाग और नन्दराजा जैन धर्म के उपासक थे। नन्दराजा भगवान पार्श्वनाथ की अर्चना करते थे। भगवान महावीर ग्रहस्थावास में जब भावमुक्त थे और राजमहल में कायोत्सर्ग में मुद्रा में खडे थे, उस समय के भावों को व्यक्त करने वाली गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बिद्युन्माली देव द्वारा निर्मित हुयी एवं राज महिर्षी प्रभावती द्वारा पूजी जाती रही। तित्थोगाली पइन्नय से ज्ञात होता है कि नन्द राजाओं ने पाटलिपुत्र में पाँच जैन स्तूपों का निर्माण करवाया था। युआन्च्युआड ने भी अपनी यात्रा विवरण में इन पॉचों स्तूपो का उल्लेख किया है। और बताया कि किसी आबोध राजा द्वारा वे ध्वस्त कर दिये गये। इससे यह स्पष्ट होता है कि ''जिन'' उपासना और प्रतिमाओं की पूजा 5 वीं ईसा पूर्व में प्रचलित थी। उदयगिरि की हाथी गुम्फा नामक गुफा में ई. पू. की प्राकृत भाषा में लिखित एक सुविस्तृत लेख प्राप्त हुआ है। जिसमें कलिंग सम्राट खारवेल के बाल्काल व शासनकाल के तेरह वर्षो का चरित्र वर्णित है। यह लेख अरहंतो व सर्व-सिद्धों के नमस्कार (नमो अरहंतानं, नमो सब सिधानं) के साथ प्रारम्भ हुआ है और उसकी 12 वीं पक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि उसने अपने शासन काल के 12 वे वर्ष में मगध पर आक्रमण कर वहां के राजा ब्रहस्पतिमित्र को

पराजित किया और वहां से "जिन" की प्रतिमा को अपने देश को लौटा लिया, जिसे पहले नन्दराजा अपहरण कर ले गया था।

जैन तीर्थकर प्रतिमा निर्माण के विकास क्रम में पटना के निकट लोहनीपुर से प्राप्त एक प्राचीन मस्तकविहीन "जिन" प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जो सर्वप्रथम जायसवाल महोदय ने प्रकाशित की थी इस प्रतिमा का सिर और हाथ खण्डित है। उसके पैर भी जंघा के पास से टूट गये हैं। प्रतिमा का तंग वक्षस्थल जैन तीर्थकरों के तपस्यारत शरीर का नमूना है। इस प्रतिमा पर चमकदार पालिश है। जिससे यह मौर्य कालीन कृति ज्ञात होती है। शताब्दियों तक भू-गर्भ में रहने पर भी इसकी चमक में अन्तर नहीं आया। जो मौर्य कालीन शिल्प की अपनी विशेषता है। शाह महोदय ने इस प्रतिमा को अब तक की प्राप्त तीर्थकरों की प्रतिमाओं मे से सबसे प्राचीन प्रतिमा मानी है। ऐसी ही एक मानव मूर्ति हड़प्पा की खुदाई से मिली है। जो पूर्णतः नग्न है। डा. हीरालाल जैन ने आकृति और भावाभिवयञ्जन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करते हुये बतलाया है कि पटना के लोहनीपुर से प्राप्त मस्तकहीन नग्नमूर्ति और हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्नमूर्ति में बड़ा ही साम्य है और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से मूर्ति वैदिक व बौद्ध प्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती हैं।

जैन तीर्थकर प्रतिमाओं के स्पष्ट निर्माण का काल ई. शती का आरम्भ है। इस समय से तीर्थकर प्रतिमाओं का प्रमाण मिलने लगता है। यह प्रमाण मथुरा की कला में उपलब्ध होता है। मथुरा जैन धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ जैनियों का एक विशाल स्तूप था। जिसके अवशेष कंकाली टीले के रूप में विद्यमान हैं। इस टीले के उत्खनन से स्तूप के अनेक अवशेष मिले है। जिसके "आयागपट्ट" विशेष उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट एक विभूषित शिला होती हैं। जिनके साथ "जिन" की प्रतिमा या कोई अन्य पूज्य आकृति जुड़ी रहती है। जैनियों में ई. सन के पूर्व से ही आयागपट्ट का निर्माण होता था। आरम्भ में इन पटों पर पवित्र चिन्ह बनते थे। परन्तु कुछ समय बाद इसके मध्य में तीर्थकरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाने लगी। और इन्हें मन्दिरों में रखा

जाना लगा। प्रथम शती ई. में मथुरा की कला में तीर्थकरों की स्वतंत्र प्रतिमाओं का भी निर्माण होने लगा जिनकी कुल संख्या 24 है।

मध्यकालीन भारत के विभिन्न भागों से जैन तीर्थकरों की अनेक प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। मध्यकाल की अनेक पार्श्वनाथ तीर्थकर प्रतिमाओ के पार्श्व में यक्ष प्रतिमाओं को देखकर एस.सी. काला महोदय ने बतलाया है कि गणपति की उपासना भी जैन प्रतिमाओं के साथ की जाती थी। उन्होंने यक्ष प्रतिमाओ को भ्रमवश गणपति की प्रतिमा स्वीकार कर ली थी। जैन प्रतिमा विधान के अनुसार पार्श्वनाथ से सम्बन्धित यक्ष (पार्श्वयक्ष) को गणपति के सदृश गजमुख प्रदर्शित किया जाता है। किन्तु पार्श्वयक्ष प्रतिमा के नीचे वाहन रूप में कच्छप की आकृात निर्मित होती है और गणपति के वाहन के रूप में मूषक प्रदर्शित किया जाता है। मध्यकालीन गणपति प्रतिमाओं के हाथों में मोदक, मोदक-पात्र, कमल, परशु, नाग, अंकुश, कण इत्यादि का प्रदर्शन हुआ है जबकि पार्श्वनाथ की प्रतिमा में ऐसा नहीं होता है।

जैन कला की समृद्धि के वास्तविक परिचय का अभाव दिखाया देता है। परन्तु उपरोक्त वर्णन के अनुसार कुछ उदाहरणों में उनकी महत्ता दर्शनीय है। जिनमें लोहनीपुर (पटना) और कंकाली टीले (मथुरा) की जिन प्रतिमाओं में अंकित यक्ष-युगल उदात्ता लावण के प्रतीक हैं। अधिकांशतया तीर्थकरों दोनों पार्श्वो में यक्ष-यक्षणियों के युगल के सौम्यचित्रों के साथ-साथ मूर्तियो में भी उज्जवल धूमवर्ण/लोक शैली की अल्हड़ता, वस्त्र सज्जा और हस्त मुद्राएं सभी में कलात्मक श्रंगार तथा माधुर्य ओत-प्रोत हैं।

भारतीय चित्रकला में जैन शिल्प का एक अपना विशिष्ट स्थान है। जिसका स्पष्टीकरण जैन प्रतिमाओं को देखकर हो जाता है। क्योंकि जैन प्रतिमाओं की भॉति चक्षु निर्माण शैली अन्यत्र दुर्लभ है। सित्तनवासन की जिन पाँच मूर्तियों को प्राचीन माना जाता है उन पर बोद्धशैली का प्रभाव दिखायी देता है। यदि प्रतीकों को छोड़ दिया जाये तो अधिकांश जिन मूर्तियों और बुद्ध मूर्तियों में बहुत कम अन्तर दिखायी देता है।

बौद्ध कला का अस्तित्व सारे भारत और सारे एशिया में व्याप्त हुआ, किन्तु जैन कला भारत की सीमा के अन्दर ही बनी रही। बौद्धकला को अशोक, कनिष्क आदि साम्राज्यों का संरक्षण प्राप्त था, जबकि जैनकला किसी भी युग में राज्याश्रित नही रही। जैन कला सदा ही धर्म की पगडंडियो पर चलती रही। लोकप्रियता प्राप्त न कर धर्मपरक होने के कारण उसमें पवित्रता और नीरसता व्याप्त है। परन्तु उच्च आदर्शो के प्रति उसकी आस्था बनी रही है।

जेसलमेर, पाटन, खभात, पूना, बीकानेर, बडौदा, आदि स्थानों के महत्वपूर्ण स्थानो में महत्वपूर्ण जैनाश्रित कला के नमूने विद्यमान हैं। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि देखरेख के अभाव में ये चिरस्थायी संरक्षण पा सकेगी या नही।

—रीडर एवं अध्यक्षा-चित्रकला विभाग
दिगम्बर जैन महाविद्यालय, बड़ौत

**"स्याद्वादो वर्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडन किंचित जनधर्म स उच्यते।।"**

अर्थात् "जिसमे सर्वत्र स्याद्वाद का वर्णन-अनेकान्त का व्यवहार होता है, पक्षपात नहीं पाया जाता और न दूसरों के पीडन का-हिंसा का ही कुछ विधान है उसे जैनधर्म कहते हैं।

क्या बद्ध कर्मों में परिवर्तन संभव है?

-डॉ. आराधना जैन

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।
निजार्जितं कर्मविहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन्।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।।

आचार्य अमितगति के उक्त पद्यों का पं. श्री जुगलकिशोर जी ने पद्यानुवाद किया है—

स्वयं किये जो कर्मशुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते।
करें आप फल देय अन्य तो स्वयं किये निष्फल होते।।
अपने कर्म सिवाय जीव को कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि।।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक जीव को अपने कृत कर्मो का फल भोगना पड़ता है। पर जब तक कर्म सत्ता में रहते हैं तक उनमें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। उसकी शक्ति, अवधि आदि जीव के परिणामो से घट भी सकती है और उनमें वृद्धि भी हो सकती है। जैसे यदि दस हजार रु. की राशि 7/8 वर्ष के लिए फिक्स्ड कर दे तो निश्चित अवधि के बाद दुगनी मिलेगी। हम चाहे तो इस फिक्स्ड राशि की अवधि बढ़ा कर तिगुनी या चार गुनी राशि भी प्राप्त कर सकते है। यदि हम चाहें तो इस पर ऋण भी ले सकते हैं और चाहे तो समय से पूर्व ही उसे समाप्त कर प्राप्य राशि का भुगतान भी प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार कर्मो की स्थिति फलदान शक्ति में परिवर्तन हमारे पुरुषार्थ से होता रहता है। आगम की भाषा में इसे संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण कहा जाता है। संचित कर्म में प्रायः ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं पर कुछ कर्म इसके अपवाद

भी हैं --

जैन दर्शन के अनुसार कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता। यह केवल उत्तर प्रकृतियों में ही होता है।[1]

उत्तर प्रकृतियों में आयु कर्म की चार प्रकृतियों का एक दूसरे में संक्रमण नहीं होता।

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों (दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय) का एक दूसरे में संक्रमण नहीं होता। पर इनकी उत्तरा प्रकृतियों का होता है।[2]

उदायावलिका बंधावलिका, उत्कर्षणावलिका और संक्रमणा-वलिका आदि को प्राप्त कर्मस्कन्धों में संक्रमण नहीं होता। अर्थात् वे कर्मस्कन्ध जो उदय, बन्ध, उत्कर्षण और संक्रमण की सीमा में जा चुके हैं उनका संक्रमण नही होता।[3]

कर्मो का जिस रूप में बन्ध होता है, कर्म उसी रूप मे फलोन्मुख नहीं होते वर्तमान पुरुषार्थ के आधार पर उनकी स्थिति और शक्ति में हीनाधिकता होती रहती है। जो इस प्रकार है-

अपकर्षण- कर्मो की स्थिति अर्थात् बंधे रहने का समय और अनुभाग दोनों की हानि होना अपकर्षण कहलाता है।[1]

कर्मो की स्थिति का अपकर्षण होने पर कर्म जितने काल के लिए बंध को प्राप्त हुए थे उनका वह काल पहले से बहुत कम हो जाता है। जिस प्रकार कर्मो की स्थिति में कमी हो जाती है उसी प्रकार अनुभाग शक्ति में भी कमी हो जाती है तीव्रतम शक्तिवाले संस्कार एक क्षण में मन्दतम हो जाते है।[5]

उदाहरणार्थ राजा श्रेणिक ने मुनि यशोधर के गले में सर्प डालकर सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था पर शीघ्र ही उनकी भावना में निर्मलता आने से सातवे नरक की स्थिति कम होकर पहले नरक की हो गयी और आयु मात्र चौरासी हजार वर्ष शेष रह गयी थी। यह ऐसा रहस्य है जिससे वर्तमान कर्मो के द्वारा अनागत को सुधारा जा सकता है और पूर्वसंचित कर्मो का क्षय किया

जा सकता है।

उत्कर्षण - कर्मो की स्थिति अर्थात् बंधे रहने के समय और अनुभाग में वृद्धि हो जाना उत्कर्षण है।[6]

कर्मो की स्थिति का उत्कर्षण हो जाने पर, कर्म जितने काल के लिए बंध को प्राप्त हुए थे, उसका उल्लंघन कर अधिक समय तक उदय में आते हैं। जैसे स्थिति में वृद्धि हो जाती है उसी तरह अनुभाग शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है। इससे मन्दनतम शक्तिवाले संस्कार क्षणभर में तीव्रतम हो जाते हैं।[7]

उदारणार्थ किसी जीव ने पहले शुभ कर्मो का बन्ध किया फिर उसकी भावनाएँ और भी निर्मल हो जाएं तो शुभकर्मो की स्थिति और फलदान शक्ति बढ जायेगी।

संक्रमण - पहले बंधी कर्म प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप परिणमना संक्रमण है।[8]

श्री जिनेन्द्र वर्णी ने शब्दकोश में लिखा है– जीव के परिणामों के वश में पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य रूप हो जाना सक्रमण है।[9] कुसंगति के प्रभाव से सज्जन दुर्जन् हो जाते हैं और सत्संगति के प्रभाव से दुर्जन भी सज्जन हो जाते हैं। यह सक्रमण ही है जो अभ्यास के द्वारा व्यक्ति के स्वभाव को बदल देता है।

उदीरणा - कर्मो के फल भोगने के काल को उदय कहते है और भोगने के काल से पहले ही अपक्व कर्मो को पकाने का नाम उदीरणा है। आत्माराम ने उदीरणा की विवेचना करते हुए लिखा है–जो कर्म स्कन्ध भविष्य में उदय में आने वाले हैं उन्हें विशिष्ट प्रयत्न तप, परीषहसहन, त्याग, ध्यान आदि के द्वारा खींचकर उदय में आये हुए कर्मो के स्कन्धों के साथ पहले ही भोग लेना उदीरणा है। इस प्रकार उदीरणा में लम्बे समय के बाद आने वाले कर्मो को पहले ही भोग लिया जाता है।[10]

उपशम - कर्मो के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना उपशम कहलाता

है।[11] कर्म की इस अवस्था में उदय या उदीरणा संभव नहीं होते। जिस प्रकार राख से आवृत अग्नि, आवृतावस्था में अपना विशेष कार्य यही कर सकती किन्तु आवरण हटते ही पुनः प्रज्वलित होकर अपना कार्य करने में समर्थ हो जाती है उसी प्रकार उपशम अवस्था में रहा कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य आरम्भ कर देता है यानि उदय में आकर फल प्रदान करना प्रारम्भ कर देता है।[12]

निर्मली के डालने से जैसे मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और कुछ समय के लिए स्वच्छ जल ऊपर आ जाता है उसी तरह कर्मो की उपशमन अवस्था में परिणामों की विशुद्धि के कारण कर्मो की शक्ति अनुद्‌भूत हो जाती है। यद्यपि यह अवस्था क्षणिक होती है परन्तु इस अवस्था का मोक्षमार्ग में अत्यन्त महत्त्व है। क्योंकि जितने समय के लिए कर्मो का क्षोभ शान्त हो जाता है उतने समय में यह जीवात्मा समता और आनन्द का अनुभव करता है। यह अल्पकालीन आनन्द ही उसे पुनः कर्मो से मुक्ति की प्रेरणा करता रहता है। श्री जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार संस्कारों के उपशम से प्राप्त क्षणिक आनन्द ही व्यक्ति की सकल प्रवृत्तियों को अपनी ओर उन्मुख कर लेता है। उसकी स्मृति चित पर अंकित हो जाती है। एक बार किसी वस्तु का स्वाद आ जाने पर जिस प्रकार व्यक्ति पुनः पुनः उसकी प्राप्ति के लिए ललचाता रहता है और प्रयत्न करता है उसी तरह उपशम से प्राप्त रसोन्मुखता उसे निरन्तर कर्मो को पूर्ण क्षय करने और आत्माभिमुख होने की ओर प्रयत्नशील बनाये रखती है।[13]

निधत्ति - कर्मो की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है जिसमें उदीरणा और संक्रमण का तो सर्वथा अभाव होता है और कर्मो का उत्कर्षण अपकर्षण संभव होता है।[14]

निकाचित - कर्म की उस अवस्था का नाम निकाचना है जिसमें उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण, उदीरणा का अभाव होता है।[15] कर्मो की इस अवस्था को नियति कहा जा सकता है क्योंकि इस अवस्था में कर्मो का फल उसी रूप में प्राप्त होता है जिस रूप में बन्ध को प्राप्त हुआ था। इसमें इच्छा, स्वातन्त्रय

या पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव रहता है। किसी विशेष कर्म की ही यह अवस्था होती है।[16]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन के अनुसार जीव जिस रूप में कर्मो का बन्ध करता है वे उसी रूप में फलदायी नही होते। बन्ध से उदय तक के मध्यवतीकाल में वर्तमान कर्मो के अनुसार पूर्वकृत कर्मो में परिवर्तन किया जा सकता है अशुभ/दूषित कर्मो में सुधार किया जा सकता है और कुत्सित आचरण के द्वारा पूर्वकृत कर्मो को उत्तेजक/विकृत भी किया जा सकता है और संवर निर्जरा द्वारा कर्मो को समूल नष्ट भी किया जाता है।

संदर्भ

1 गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 410
2 वही - 410
3 जेन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग-4, पृष्ठ 119
4 गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-438
5 कर्म रहस्य, प्र 172-173
6 गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव तत्त्वप्रदीपिका गाथा-438
7 कर्म रहस्य, प्र 172-173
8 गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव तत्त्वप्रदीपिका गाथा-438
9 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोप, भाग 4, प्र 82
10. जैन तत्त्व कलिका, छठी कलिका, प्र 180
11 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1 प्र 464
12 जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 4 प्र 25
13 कर्म रहस्य, प्र 175
14 जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-4, प्र 25
15 गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 450
16 जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 4, प्र 25

-गंज बासोदा
जिला - विदिशा (म.प्र.)

जैन कर्म सिद्धान्त में 'अनेकान्त'

-डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय दर्शनों में कर्मवाद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। दृष्ट साधनों में समानता होते हुए भी फल के तारतम्य में अन्तर परिलक्षित होता है उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश', न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट', मीमांसक अपूर्व तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसरा 'अदृष्ट' आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मो का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह 'अदृष्ट' है। जब तक उसका फल नहीं मिल पाता, तब तक आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है।[1] कारण कि यदि ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जायें। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है।[2] अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मो के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है।[3] मीमांसकों के अनुसार योगादिक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले अपूर्व[4] का आश्रय आत्मा होता है। वह अपूर्व स्वर्ग की अंकुरावस्था है और वही परिपाक-काल में स्वर्गरूप हो जाती है।

जैनदर्शन में कर्म सिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्य रूप से विशद वर्णन प्राप्त होता है। कर्म का मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकार की होती है। हंसना, खेलना, उठना, बैठना, आना-जाना आदि ये सब क्रियायें है। क्रिया जड़ और चेतन दोनों में पाई जाती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से है, अतः केवल जड़ की क्रिया यहाॅ विवक्षित नहीं है। शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा आकाश में समान निर्लेप और भित्ती में उत्कीर्ण किये गये चित्र के समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शन में जड़, चेतन सभी पदार्थो को उत्पाद, व्यय और धौव्य स्वभाव वाला माना गया है। यह स्वभाव सभी शुद्ध और अशुद्ध सब पदार्थो में पाया जाता है किन्तु यहाॅ क्रिया का अर्थ परिस्पन्द लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थो को नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीव के ही पायी

जाती है। इसलिए प्रकृति में कर्म का अर्थ संसारी जीव की क्रिया लिया गया है। भाव यह है कि संसारी जीव के प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाती है। प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्दसूरि ने लिखा है—**'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित प्राप्त परिणामः पुद्गलोपि कर्म'**[5] अर्थात् आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है। सबको समान रूप से विकास करने की स्वतंत्रता है परन्तु जीवन के कुछ प्रसंगों में किंचित् असफलता प्राप्त होने पर हम कर्म को दोष देने लगते हैं। "करम गति टाली नाहि टलै", "विधि का विधान", "भवितव्यता अमिट है", "भाग्यं फलति सर्वत्र" इत्यादि वाक्यों के माध्यम से अपने आप को निराश कर जीवन को दुःखद बनाते हैं। हमें कर्मवाद में एकान्तिक मान्यताओं को छोड़कर अनेकान्त के आलोक में विमर्श की अपेक्षा है अन्यथा अनेक विसंगतियों उत्पन्न हो जायेगीं। जैन कर्मवाद के कुछ प्रमुख तथ्यों पर अनेकान्त के सन्दर्भ में हम प्रकाश डाल रहे हैं।

1. कर्म का जीव से कथंचित् अनादित्व और सादित्व - तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है, "अनादि सम्बन्धे च"[6] अर्थात् ये दोनों तैजस और कार्मण शरीर अनादिकाल से जीव के साथ हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द विकल्प अर्थ में है। **आचार्य अकलङ्क** जीव और कर्म के सम्बन्ध में लिखते हैं—**बंध सन्तति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेषतः बीज वृक्ष के समान सादि सम्बंध है। जैस वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और बीज दूसरे वृक्ष से उत्पन्न होता है तथा यह वृक्ष दूसरे बीज से उत्पन्न हुआ था इस प्रकार बीज और वृक्ष का कार्य-कारण सम्बंध सामान्यापेक्षया अनादि है। इस बीज से यह वृक्ष हुआ और इस वृक्ष से यह बीज इस विशेष की अपेक्षा से सादि है अर्थात् सन्तति की दृष्टि से बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि है।**

एकान्त से अनादिमान् ही स्वीकार कर लेने पर निर्निमित्तक होने से नवीन शरीर के सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा। जिनके सिद्धान्त में एकान्त से तैजस,

कार्मण शरीर का अनादि सम्बंध है-उनके सिद्धान्त में पूर्व में ही आत्यन्तिकी शुद्धि को धारण करने वाले जीव के नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा-क्योंकि शरीर के सम्बन्ध का कोई निमित्त ही नहीं है।

यदि एकान्त से निर्निमित्तक आदि सम्बंध माना जायेगा तो मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा—क्योंकि जैसे आदि शरीर अकस्मात् सम्बंध को प्राप्त होता है वैसे ही मुक्तात्मा के भी आकस्मिक शरीर सम्बंध होगा इसलिए मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

तथा एकान्त से सर्वथा तैजस, कार्मण शरीर को अनादि मानेंगे तो भी अनिर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा क्योंकि जो अनादि है—उसका आकाश के समान अन्त भी नहीं होगा, कार्य-कारण के सम्बध का अभाव होने से मोक्ष का अभाव हो जाता है। यदि कहो कि अनादि बीज वृक्ष की सन्तान का अग्नि से सम्बन्ध होने पर अन्त देखा जाता है उसी प्रकार तैजस कार्मण शरीर का भी अन्त हो जायेगा—तब तो एकान्त से अनादित्व का अभाव होगा। बीज वृक्ष विशेषपेक्षया अनादिमान् है अतः जैस बीज-वृक्ष की सन्तति अग्नि से नष्ट हो जाती है-वैसे ही कार्मण शरीर भी ध्यान अग्नि से नष्ट हो जाता है इसलिए साधूक्त है कि किसी प्रकार से वे अनादि हैं और कथंचित् सादि हैं।[7]

2. मूर्त कर्म का अमूर्तिक आत्मा से बंध में अनेकान्त - जैन दर्शन में कर्म को पौद्गालिक माना है। मूर्त कर्मो का अमूर्त आत्मा से बंध कैसे होता है इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यो ने अनेकान्तात्मक शैली में दिया है। जैन तत्व व्यवस्था में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बन्धन बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बंध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बन्धन बद्धता होने से उसका मूर्त कर्मो के साथ बंध हो जाता है।[8]

जिस प्रकार घृत मूलतः दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन

जाने के बाद उसे पुनः दूध में परिणत करना असंभव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलतः पाषाण में पाया जाता है परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे किट्टिमा के साथ मिला पाना असंभव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलतः कर्म बद्ध (सशरीरी) उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार कर्मो से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असंभव है। जीव मूलतः अमूर्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मो से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण आत्मा मूलतः अमूर्तिक न होकर कथंचित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मो के साथ बंध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता। इतना अवश्य है कि एक बार मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्तिक हो जाता है, और तब कर्म के साथ उसके बंध होने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता है।[9]

3. भावकर्म और द्रव्यकर्म में कथंचित् भिन्नाभिन्नता— आचार्य विद्यानन्दि ने कर्म के भेदों के सम्बन्ध में लिखा है—

> **कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः।**
> **द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।।**
> **भावकर्माणि चैतन्य विवर्त्तात्मानि भान्ति नुः।**
> **क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिदभेदतः।।**[10]

अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं—1. द्रव्यकर्म, 2. भावकर्म। जीव के दो द्रव्य कर्म हैं, वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं तथा जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्यपरिणामात्मक हैं क्योंकि कथञ्चित् अभिन्न रूप से स्वसंवेद्य प्रतीत होता हैं और वे क्रोधादि रूप है।

द्रव्य-कर्म के सम्बन्ध में आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है—'**यथा भाजन विशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिरा भावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्म भावेन परिणामो वेदितव्यः**'।[11]

जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों

को मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्म रूप परिणमन होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि भाव-कर्म द्रव्य-कर्मो को प्रभावित करते हैं और द्रव्य-कर्म भाव-कर्म को प्रभावित करते हैं। दोनों की एक ऐसी सन्धि है कि दोनों एक-दूसरे को जीवनी शक्ति प्रदान कर रहे हैं।

भावकर्म के द्वारा द्रव्यकर्म का आकर्षण होता है। भावकर्म है—जैविक रायनिक प्रक्रिया। जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया और द्रव्यकर्म सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। एक जैविक है और एक पौद्गलिक। दोनों में सम्बन्ध स्थापित होता है। दोनो प्रकियाएं एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया का योग है। सूक्ष्म शरीर की रसायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग है इसीलिए सम्बन्ध स्थापित होता है। यदि दोनों के सम्बन्ध न हो तो वह एक-दूसरे को प्रभावित नही कर सकते। रसायन दो प्रकार के होते हैं— बाहरी रसायन और भीतरी रसायन। दोनों प्रकार के रसायन आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।[12]

कर्म की दृष्टि से भाव और द्रव्य कर्म समान हैं परन्तु भावकर्म कथञ्चित् आत्मिक हैं और द्रव्य कर्म कथञ्चित् पौद्गलिक। इनमें कार्य-कारण भाव है। भावकर्म द्रव्यकर्म का कारण है और द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है।

4. कर्मबन्ध में एकानेकात्मकता - कर्म के परमाणु अपने आप व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। जीव अपनी प्रवृत्ति के द्वारा कर्म परमाणु स्कन्धों को आकर्षित करता है, अपने साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और वह सम्बन्ध बहुत गहरा हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।।[13]

जीव मिथ्यात्व आदि परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलो का कर्मरूप परिणमन करता है और पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।

'तत्त्वार्थसूत्र' में बंध को परिभाषित करते हुए लिखा है–

सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः' [14]

अर्थात् जीव सकषाय होने से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

बन्ध दो प्रकार का है–एक भाव बन्ध और दूसरा द्रव्य-बन्ध। जिस राग, द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है उन भावों को भाव-बन्ध कहते हैं। कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध हैं।

भाव बन्ध–नोकर्म बन्ध और कर्म बन्ध के भेद से दो प्रकार का है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नोकर्म है। जो कर्म बन्ध है उसको पुनर्भविक कर्म बन्ध सन्तति का सद्भाव होने से सादि, सान्त और पूर्णतया नाश न होने से अनादि अनन्त जानना चाहिए क्योंकि बीज और अकुर के समान इसके प्रादुर्भाव की सन्तान चलती रहती है।

कर्म बन्ध के चार भेद भी बताये गये हैं–प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध।[15] आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है–

कम्मं जोग णिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिइ कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइ कारणं णत्थि।।[16]

मन, वचन और शरीर के व्यापार से उत्पन्न आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन रूप योग से कर्म ग्रहण किये जाते हैं तथा क्रोध, अहंकार, माया और लोभ रूप कषाय से बन्ध की स्थिति निर्मित होती है। परन्तु उपशान्त कषाय तथा क्षीण कषाय (ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में) की अवस्था में कर्मबन्ध की स्थिति का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता।

बंध सामान्य की अपेक्षा समानता होते हुए भी विशेष की अपेक्षा से इनमें अन्तर है। कषाय के योग से स्थिति और अनुभाग बन्ध तथा योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध।

बन्ध के एक से लेकर संख्यात तक भेद होते हैं। उनमें सामान्य से कर्म बन्ध एक है। विशेषों की अपेक्षा नहीं होने से सेना और वन के समान। जैसे सैनिक, हाथी, घोड़ा आदि भेदों की विवक्षा न होने से समुदाय की अपेक्षा सेना एक कही जाती है, अशोक, तिलक, बकुल आदि वृक्षों की भेद विवक्षा न होने से सामान्यतया वन एक कहा जाता है, उसी प्रकार भेदों की विवक्षा न करने पर सामान्यतया कर्म बंध एक ही प्रकार का है। उसी प्रकार पुण्य और पाप के भेद से कर्म बन्ध भी दो प्रकार का है। अनादि-सान्त, अनादि-अनन्त और सादि-सान्त के भेद से कर्मबन्ध तीन प्रकार का है। प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। पृथ्वी आदि छह काय के जीवों के भेद से छह प्रकार का कहा गया है। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कारण के भेद से बन्ध सात प्रकार की वृत्ति का भी अनुभव करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—आठ प्रकार के कर्मो के विकल्प संख्यात विकल्प हैं, क्योंकि कर्म शब्द के वाचक शब्द संख्यात ही हैं। विकल्प की अपेक्षा असंख्यात हैं। अनन्तानन्त प्रदेश स्कन्ध के परिणमन विधि की अपेक्षा कर्मबन्ध अनन्त है।[17]

5. पुण्य तथा पाप कथंचित् सदृश है, कथंचित् असदृश— आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है, जैसे सोने से निर्मित बेड़ी हो चाहे लोहे की, दोनों ही तरह की बेड़ियाँ पुरुष को साधारण रूप से जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म वह साधारण रूप से जीव को संसार में रखता है।[18]

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीय आदि तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है, जैसे असातावेदनीय आदि।[19]

पुण्य दो प्रकार का है— एक जीव पुण्य , दूसरा अजीव पुण्य। जो जीव पुण्य-भाव अर्थात् शुभ-भाव से युक्त हो वह जीव पुण्य है। जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव पुण्य है। पुण्य का पर्यायवाची शुभ भी है। इसलिए पुण्य भाव को शुभ भाव भी कहते हैं।[20]

जीव तीन प्रकार के हैं— 1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं। इनमें से बहिरात्मा पाप जीव हैं। अन्तरात्मा पुण्य जीव हैं। परमात्मा पुण्य-पाप से रहित हैं।

'मोक्ष पाहुड' में लिखा है—व्रत और तप रूप शुभ भावों से (पुण्य भावों से) स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप (अशुभ भाव, पाप भाव) से नरक में दुःख प्राप्त होना ठीक नहीं है, वैसे ही व्रत (शुभ) और अव्रत (अशुभ) पालने वालों में महान् अन्तर है।[21]

पुण्य और पाप दोनों ही भाव विभाव हैं, आत्मा के चरित्र गुण की विकारी पर्यायें हैं, अतः विकार-विभाव की अपेक्षा दोनों में साम्य है। जैसे चाहे लोहे की बेड़ी हो या सोने की बेड़ी पर है तो बेड़ी ही। इसलिए दोनों सदृश हैं। इसी तरह पुण्य तथा पाप रूप द्रव्य कर्म भी आत्मा से परत्व की अपेक्षा समान हैं। कर्म तो परद्रव्य ही है, चाहे पाप कर्म हो या पुण्य कर्म, पर हैं तो कार्मण वर्गणा की पर्याय ही। इस तरह पुण्य-पाप कथंचित् सदृश हैं, क्योंकि दोनों ही संसार के कारण हैं परन्तु इनके फल में भिन्नता देखी जाती है अतः कथंचित् भिन्नता है।

आचार्य अकलंक के अनुसार पुण्य-पाप को सर्वथा एंक रूप कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतंत्रता के कारण हैं तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल में निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रियों के विषय आदि का निवर्त्तक कारण है वह पुण्य है तथा अनिष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रियों के विषय आदि पाप हैं। इनमें शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग

पाप आस्रव का।[22]

आचार्य अमितगति ने लिखा है जो मूढ़ पुण्य-पाप दोनों के विशेष भेद को अथवा दोनों में अविशेष-अभेद को नहीं जानता वह चारित्र से परिभ्रष्ट है और संसार का परिवर्द्धक है, भव-भ्रमण करने वाला दीर्घ संसारी है।[23]

6. कर्मसिद्धान्त में पंच समवाय की मान्यता – जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ-इन पांच समवाय को स्वीकार किया गया है।[24] सांमान्यतः नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ये पांच कारण नियम से होते हैं। स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। पुरुषार्थ से जीव का बल वीर्य लिया गया है। काल से स्वकाल और परकाल का ग्रहण किया गया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलाई गई है और कर्म से बाह्य निमित्त का ग्रहण किया गया है।

अष्ट सहस्री, (पृ. 257) में भट्टाकलंकदेव ने एक श्लोक लिखा है–

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसे सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

भवितव्यता क्या है? जीव की समर्थ उपादान शक्ति नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यता की व्युत्पत्ति है–**'भवितुम योग्यं भवितव्यम, तस्य भावः भवितव्यता।'** जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसी का नाम भवितव्यता है। द्रव्य की समर्थ उपादान शक्ति कार्य रूप से परिणत होने के योग्य होती है इसलिए **समर्थ उपादान शक्ति भवितव्यता** या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित

किया गया है सो प्रकरण के अनुसार उक्त अर्थ करने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यता से उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोक में भवितव्यता को प्रमुखता दी गयी है और साथ में व्यवसाय पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्री को भी सूचित किया गया है सो इस कथन द्वारा उक्त पांचों कारणों का समवाय होने पर कार्य की सिद्धि होती है, यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादान की विशेषता होने से भवितव्यता में गर्भित हैं ही।

यहाँ भवितव्यता के प्रसंग में पुरुषार्थ का भी विचार कर लेना चाहिए। कार्योत्पत्ति में भवितव्यता अन्तरंग (उपादान) कारण है और पुरुषार्थ बहिरंग (निमित्त) कारण है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति दोनों कारणों से होती है। अनेकान्तवादी जैनदर्शन में देव और पुरुषार्थ दोनों का समन्वय किया गया है। देव और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में आप्तमीमांसा में लिखा है–

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपे क्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।।[26]

जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक घटित हो जाता है उसे अपने दैवकृत समझना चाहिए। यहॉ पौरुष गौण है और देव प्रधान है और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य बुद्धिपूर्वक घटित होता है उसे अपने पौरुषकृत समझना चाहिए। यहाँ दैव गौण है और पौरुष प्रधान है।

इस विषय में **आचार्य अकलंकदेव** ने 'अष्टशती' में लिखा है–**योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थ सिद्धिः। तदन्यतरापायेऽघटनात।**

अर्थात् योग्यता अथवा पूर्व कर्म दैव कहलाते हैं। ये दोनों अदृष्ट हैं तथा इस जन्म में किये गये पुरुष व्यापार को पौरुष कहते हैं। यह दृष्ट होता है। इन दोनों से अर्थ की सिद्धि होती है और इन दोनों में से निजी एक के अभाव में अर्थ की सिद्धि नहीं होती है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत (हमारा किया हुआ) और पुरुषार्थ–ये पांच तत्त्व हैं। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये

पांचों सापेक्ष हैं। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएँ खड़ी हो जायेंगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने-अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कुँए में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धान्त है दुनिया का। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है। यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। इसलिए इसे कहा जाता है—पुराकृत। इसका अर्थ है पहले किया हुआ। पॉचवा तत्त्व है—पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ दो नहीं, एक ही हैं। एक ही तत्त्व के दो भाग हैं। इनमें अन्तर इतना है कि वर्तमान का पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ कर्म कहलाता है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है।

ये पाँच तत्त्व हैं, पॉचों सापेक्ष हैं। सर्वशक्तिमान एक भी नहीं। सबकी शक्तियां सीमित हैं, सापेक्ष हैं। इसी आधर पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं।[27]

7. कथंचित् कर्म का कार्य निमित्त जुटाना "है" कथंचित् "नहीं है"— हमारे कर्मो का बाहरी सामग्री तथा दूसरे प्राणी पर असर पड़ता भी है और नहीं भी, ऐसा अनेकान्त है एकान्ततः नियम नहीं है। हमारा कर्मोदय निमित्त मात्र होता है, जैसे पण्डित दौलतराम ने कहा है—"**भवि भागन वच**

जोगे वशाय, तुम धुनि है सुनि विभ्रम नशाय" यहाँ भव्य जीवों का भाग्य ध्वनि के खिरने में निमित्त हुआ और वचन योग से निकली वचन-वर्गणाएँ भव्य जीवों के भ्रम दूर करने में कारण हुई। चक्रवर्ती गणधरादि की शंका के निमित्त से भी भगवान् की वाणी खिर जाती है। इस प्रकार अनेक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। मनुष्य स्वयं खोटा या अच्छा अपने कर्मोदय या विचारों से होता है किन्तु उसकी संगति का दूसरों पर भी असर पड़ता है। कहा भी है–**"जब लौ नहीं शिव लहूँ, तब लौं देहु यह धन पावना। सतसंग सुद्धाचरण श्रुत अभ्यास आतम भावना।"** यहां पर सर्वप्रथम सत्संग पाने की भावना है।

प्रद्युम्न-चरित्र में यह कथन है कि जो दुःख-दायक सामग्री थी वही सामग्री पुण्योदय के कारण सुख को उत्पन्न कराने वाली हो गई। सास ने घड़े में सर्प डाला, किन्तु पुण्योदय से वह सर्प फूलमाला बन गया। इन सब कथनों से स्पष्ट है कि पुण्य कर्म के निमित्त (कारण) से बाह्य सामग्री जुट जाती है।

इस प्रकार कर्म का कार्य निमित्त जुटाना है। क्वचित् नहीं जुटाना भी है, एकान्ततः कुछ नियम नहीं हैं। षट्खण्डागम तथा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि सातावेदनीय कर्मोदय से बाह्य सामग्री मिलती है।[28] पर सर्व कर्म उदित होकर बाह्य सामग्री जुटाने में हेतु होते ही हैं, ऐसा एकान्त नहीं है।

कथंचित् कर्म जीव स्वभाव का पराभव करते हैं, कथंचित् नहीं करते– यदि स्वतः, अकारण, स्वयं के कारण से ही जीव के स्वभाव का पराभव होता है तो वह सिद्धों में भी होना चाहिए। क्योंकि कारण तो कुछ मिलाना ही नहीं पड़ रहा है अतः सिद्ध है कि कर्म जीव स्वभाव का पराभव करते हैं। प्रवचनसार में कहा भी है, जैसे ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तैल के स्वभाव का पराभव करके किया जाने वाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्याय कर्म के कार्य हैं।[29] **परमात्म-प्रकाश** में भी इसी सन्दर्भ में कहा है–"दुक्खु वि सुक्खु वि बहु विहउ, जीवहं कम्मु जणेइ", अर्थात् जीव के अनेक तरह से सुख और दुःख को कर्म ही उपजाता है। इस प्रकार कर्म अनादि से जीव स्वभाव का पराभव कर रहे हैं यह कथंचित् सत्य है। परन्तु ये ही कर्म

अन्तरंग कारण बनकर जीव स्वभाव का पराभव नहीं करते, इस दृष्टि से कथंचित पराभव नहीं भी करते हैं अथवा सिद्धों के स्वभाव का पराभव कर्म नहीं कर सकते। इस दृष्टि से भी कथंचित् जीव स्वभाव का पराभव कर्म नहीं भी करते। ज्ञानियों का विलास ही विचित्र है। अनेकान्तवाद में किसी को भी बोलने का मौका नहीं मिलता।

8. कर्म कथंचित् नष्ट होते हैं, कथंचित नष्ट नहीं होते — अष्ट कर्म नष्ट किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस सिद्धान्त वचन से जाना जाता है कि कर्म नष्ट होते हैं, क्योंकि अनेक परमात्माओं ने कर्म नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया ही है। कथंचित् कर्म नष्ट नहीं होते। इस कथन का अभिप्राय यह है कि सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्म द्रव्य का विनाश नहीं होता। वह कर्म द्रव्य अकर्म पर्याय रूप परिणमन कर जाता है अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणाएँ ही आत्मा के रागादि भाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा को परतंत्र बना देती हैं। कदाचित् उस आत्मा से अलग होकर कर्मत्व अवस्था को छोड़कर पुनः अकर्म पुद्गल रूप हो जाती है, जैसे कि मणि से मल द्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्य पुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कथंचित् (अर्थात् पर्याय की अपेक्षा कर्म नष्ट होते हैं, कथंचित् द्रव्यपन की अपेक्षा) कर्म नष्ट नहीं होते हैं।[10]

कर्म सिद्धान्त का सम्यग्दर्शन — जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। अपने कर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता भी वही है किन्तु अनादि से कर्म परतन्त्र होने के कारण वह अपने स्वभाव को भूला हुआ है। इस कारण वह किसी आपत्ति के आने पर 'करम गति टाली नाहि टलौ, विधि का विधान ऐसा ही है, 'भवितव्यता दुर्निवार है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करता है। यह तो वही हुआ कि जब जैन-दर्शन ने ईश्वर की दासता से मुक्ति दिलाई तो कर्म की दासता स्वीकार कर ली। यथार्थ में कर्म की गति अटल नहीं है। उसे हम अपने पुरुषार्थ से टाल सकते हैं। उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कर्म की

विविध अवस्थाएँ हमारे पुरुषार्थ के अधीन हैं अतः कर्म का सम्यग् दर्शन करके हमें अनुकूल सत्पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने लिखा है–'अनेकान्त कोरा दर्शन नहीं है, यह साधना है। एकांगी आग्रह राग और द्वेष से प्रेरित होता है। राग-द्वेष क्षीण करने का प्रयत्न किये बिना एकांगी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। जैनदर्शन ने राग-द्वेष क्षीण करने के लिए अनेकान्त दृष्टि प्रस्तुत की।[31] इसी आलोक में आज सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्रों में राग-द्वेष को नष्ट कर अनेकान्त को अपनाने की आवश्यकता है। जैन दर्शन का कर्मवाद आज अनेक समस्याओं से निजात दिलाने में समर्थ है।'

सन्दर्भ

1 न्याय सूत्र 4/1 ईश्वर. कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्, 2 साख्य सूत्र 5/25 अन्त करणधर्मत्व धर्मादीनाम्, 3 अभिधर्म कोष 4/1 कर्मज लोकवैचित्र्य चेतना मानस च तत्, 4 न्यायमञ्जरी, पृ 279, 5 प्रवचनसार की टीका, पृ 165, 6 तत्त्वार्थसूत्र, 2/41, 7 आचार्य अकलक तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथम भाग, पृ 404-405, 8 द्रव्यसग्रह गाथा-7, 9 कर्म सिद्धान्त 38, 10 आप्त परीक्षा 113,114, 11 तत्त्वार्थवार्तिक 8/2 की टीका, द्वितीय भाग, पृ 450, 12 आचार्य महाप्रज्ञ कर्मवाद, पृ 28, 13 समयसार 80, 14 तत्त्वार्थसूत्र 8/2, 15 वही 8/3, 16 सन्मति तर्क 1/19, 17 आचार्य अकलक-तत्त्वार्थवार्तिकम्, द्वितीय भाग, पृ 461,

18 सौवण्णिय पि णियल बधदि कालायस पि जह पुरिसं।
बधदिऽएव जीव सुहमसुह वा कद कम्म।। –समयसार 153

19 पुनात्मात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद् वेद्यादि। पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पाप। तत्सद्वेद्यादि। सवार्थसिद्धि, पृ 245,

20. "जीविदरे कम्मचपे पुण्ण पावोत्ति होदि पुण्ण तु"। गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा 643

21 वर वयतेवहि सग्गो मा दुक्ख होउ णिरई इयरेहि
छायातवट्ठियाण पडिवालताण गुरुभेय।। मोक्षपाहुड गाथा 25

22 तत्त्वार्थवार्तिक द्वितीय भाग, पृ 254,

23 य पुण्यपापयोर्मूढो विशेषं नावबुध्यते।
स चरित्र परिभ्रष्ट ससार परिवर्धका.।। –योगसार प्राभृत 3/37

24 कालो सहाव णियई, पुव्वकय कारणेगंता।
मिच्छत्त ते चेव उ समासमो होति सम्मत्त।। –सन्मति प्रकरण 3/53

25 प फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ 212, 26. आप्तमीमासा-91,

27. आचार्य महाप्रज्ञ कर्मवाद, पृ 130, 28 धवल 6/36, धवला 13, मोक्षमार्ग प्रकाशक 2/36
29. यथा खलु ज्योति स्वभावेनतैलस्वभावमभिभूय क्रियमाण· प्रदीपो ज्योति कार्य तथा कर्मस्वभावेन जीव स्वभावभिमूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्याया कार्यम्।। 117 --प्रवचनसार टीका आ अमृतचन्द
30 अष्टसहस्त्री-प्रथम परिच्छेद 141।
31. आचार्य महाप्रज्ञ जैनदर्शन, मनन और मीमासा-प्रस्तुति, पृ 4।

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1 आचार्य कुन्दकुन्द–समयसार, प्रवचनसार प्रकाशक–परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास
2 आचार्य उमास्वामि–तत्त्वार्थसूत्र, प्रकाशक–गणेश वर्णी शोध सस्थान, वाराणसी
3 आचार्य अकलक–तत्त्वार्थवार्तिक–प्रथम एव द्वितीय भाग, प्रकाशक–दुलीचन्द, प्रदीपकुमार, यूनिवर्सल, एजेन्सीज, देरगाव (आसाम)
4 आचार्य नेमिचन्द्र–द्रव्यसंग्रह, प्रकाशक–परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास
5 आचार्य विद्यानन्दि–आप्त परीक्षा, प्रकाशक–अ भा अनेकान्त विद्वत परिषद्
6 आचार्य महाप्रज्ञ–कर्मवाद, प्रकाशक–आदर्श साहित्य, सघ, चूरू (राजस्थान)
7 सन्मति तर्क–सम्पादक-प देवेन्द्र कुमार शास्त्री, प्रकाशक –ज्ञानोदय ग्रंथ प्रकाशन, नीमच (म प्र)
8 आचार्य पूज्यपाद–सर्वार्थसिद्धि, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
9 आचार्य नेमिचन्द–गोम्मटसार जीवकाण्ड, प्रकाशक–परमश्रुत मण्डल, अगास
10 आचार्य अमितगति–योगसार प्राभृत, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
11 आचार्य समन्तभद्र–आप्तमीमासा,' प्रकाशक–गणेशवर्णी शोध-सस्थान, वाराणसी
12 आचार्य विद्यानन्दि–अष्टसहस्त्री, प्रकाशक–ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुर (मेरठ)
13 आचार्य महाप्रज्ञ–जैनदर्शन, मनन और मीमासा, प्रकाशक–आदर्श साहित्य सघ, चूरू

विभागाध्यक्ष
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341306 (राज.)

नैष्ठिक श्रावक : एक अनुचिन्तन

-डॉ. जयकुमार जैन

श्रावक शब्द का अर्थ – श्रावक शब्द का सामान्य अर्थ श्रोता या सुनने वाला है। जो जिनेन्द्र भगवान् के वचनों को एवं उनके अनुयायी गुरूओं के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सावधानी से सुनता है, वह श्रावक है। कहा भी गया है–

''अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत् परं समाचारमनुप्रभातम्।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः।।''[1]

अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध सम्पत्ति को प्राप्त जो व्यक्ति प्रातःकाल से ही साधुजन से उनकी समाचार विधि को आलस्य रहित होकर सुनता है, जिनेन्द्र भगवानों ने उसे श्रावक कहा है। श्रावक शब्द की एक निरुक्ति भी प्राप्त होती है, जिसमें श्र, व और क वर्णो को क्रमशः श्रद्धा, विवेक और क्रिया का प्रतीक मानकर श्रद्धावान् विवेकशील एवं अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहा गया है। यथा–

''श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवित।''[2]

अर्थात् श्रावक शब्द में प्रयुक्त 'श्रा' शब्द तत्त्वार्थश्रद्धान की सूचना देता है, 'व' शब्द सप्त धर्म क्षेत्रों में धन रूपी बीजों को बोने की प्रेरणा करता है और 'क' शबद क्लिष्ट कर्म या महान् पापों को दूर करने की सूचना देता है। इस प्रकार से कर्मधारय समास करने पर निरुक्ति के रूप में श्रावक शब्द निष्पन्न हो जाता है। कुछ विद्वानों ने इसी निरुक्त्यर्थ का पल्लवन अधोलिखित श्लोक में इस प्रकार किया है–

''श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणः।।''[3]

अभिप्राय यह है कि जो श्रद्धालु जैन शासन को सुनता है, दीन जनों में अर्थ को तुरन्त प्रदान करता है एवं सम्यग्दर्शन का वरण करता है तथा सुकृत एवं पुण्य करके संयम का आचरण करता है, चतुर लोग उसे श्रावक कहते हैं।

श्रावक के लिए प्रयुक्त पर्यायवाची – व्रती गृहस्थ को श्रावक शब्द के अतिरिक्त विविध श्रावकाचारों में उपासक, सागार (आगारी), देशसंयमी (देश विरती/अणुव्रती) आदि नामों का भी उल्लेख हुआ है। रत्न-करण्डश्रावकाचार में श्रावक को मोक्षमार्गस्थ गृहस्थ कहकर निर्मोही होने की दशा में उसे मोही मुनि से भी श्रेष्ठ माना गया है–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।[4]

सामान्यतः उपासक, सागार और देशसंयमी शब्द पर्यायवाची माने गये हैं, तथापि योगार्थ की दृष्टि से इन शब्दों में अपना-अपना वैशिष्ट्य छिपा है। जो अपने अभीष्ट देव एवं गुरु की उपासना करता है, वैयावृत्ति और आराधना करता है वह उपासक कहलाता है। गृहस्थ व्यक्ति वीतराग देव की आराधना करता है एवं निर्ग्रन्थ गुरूओं की वैयावृत्ति करता है तथा यथाशक्ति व्रतों को धारण करता है, अतः उसे उपासक कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रावक के लिए उपासक शब्द प्राचीन काल में बहुशःप्रचलित रहा है। इसी कारण व्रती गृहस्थ के आचार विषयक ग्रन्थों का नाम प्रायः उपासकाध्ययन या उपासकाचार रहा है। स्वामी समन्तभद्र द्वारा विरचित रत्नकरण्डक को भी उसके संस्कृत टीकाकार आ. प्रभाचन्द्र ने 'रत्नकरण्डकनाम्नि उपासकाध्ययने' वाक्य में रत्नकरण्डक नामक उपासकाध्ययन ही कहा है। घर में रहने के कारण गृहस्थ श्रावक की सागार संज्ञा है। इसे गेही, गृही, गृहमेधी नाम भी प्रयुक्त हुये हैं। यहाँ गृह वस्त्रादि के प्रति आसक्ति का उपलक्षण प्रतीत होता है। अणुव्रत रूप देशसंयम को धारण करने के कारण श्रावक को देशसंयमी, देशव्रती या अणुव्रती भी कहा गया है। इसका संयतासंयत नाम से भी उल्लेख हुआ है।

श्रावक धर्म प्रतिपादन के आधार – जैन वाङ्मय में चारित्र का प्रतिपादन

करने वाले ग्रन्थों में श्रावक धर्म का प्रतिपादन निम्नलिखित आधारों पर प्राप्त होता है–

1. प्रतिमाओं के आधार पर
   (क) चारित्रपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द
   (ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय
   (ग) श्रावकाचार में आचार्य वसुनन्दि
2. बारह व्रत एवं सल्लेखना के आधार पर
   (क) तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी
   (ख) रत्नकरण्डश्रावकचार में आचार्य समन्तभद्र

   यद्यपि समन्तभद्राचार्य ने प्रतिमाओं का भी वर्णन किया है, किन्तु उनके श्रावक धर्म प्रतिपादन का आधार बारह व्रत एवं सल्लेखना ही है। ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन तो उन्होंने बाद में किया है, जिनकी संगति बैठाने के लिए ही आचार्य प्रभाचन्द्र ने उत्थानिका में लिखा है–"साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमाः भवन्तीतयाशङ्कयाह।"[5]
3. पक्ष, चर्या और साधन के आधार पर
   (क) महापुराण में पर्व 39 में आचार्य जिनसेन
   (ख) सागार धर्मामृत में पं. आशाधर

श्रावक के भेद – सागार धर्मामृत में श्रावक के तीन भेद किये गये हैं-पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।[6] धर्मसंग्रहश्रावकचार आदि में भी श्रावक के इन तीन भेदों को स्वीकार किया गया है। इन तीन भेदों का मूल आधार आचार्य जिनसेन द्वारा कथित पक्ष, चर्या एवं साधन रूप से श्रावक धर्म है। महापुराण में आशंका की गई है कि षट्कर्मजीवी द्विजन्मा जैनी गृहस्थ है, उनके भी हिंसा दोष का प्रसंग होगा? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि हॉ होगा, क्योंकि गृहस्थ अल्प सावद्य का भागी तो होता ही है। परन्तु शास्त्र में उसकी शुद्धि भी बतलाई गई है। शुद्धि के तीन प्रकार हैं–पक्ष, चर्या और साधन। समस्त हिंसा का त्याग करना जैनों का पक्ष है। उनका यह पक्ष मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य रूप चार भावनाओं से वृद्धिंगत होता है। देवता की आराधना

के लिए या मंत्र की सिद्धि के लिए, औषधि या आहार के लिए मैं कभी किसी भी प्राणी को नहीं मारूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा को चर्या कहते हैं। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी कोई दोष लग जाय तो प्रायश्चित के द्वारा उसकी शुद्धि बतलाई गई है। पश्चात् अपने सब कुटुम्ब और गृहस्थाश्रम का भार पुत्र पर डालकर घर त्याग कर देना चाहिए। यह गृहस्थों की चर्या कही गई है। जीवन के अन्त में अर्थात् मरण के समय शरीर, आहार और सर्व इच्छाओं का परित्याग करके ध्यान की शुद्धि द्वारा आत्मा के शुद्ध करने को साधन कहते हैं। अर्हन्तदेव के अनुयायी द्विजन्मा गृहस्थ को इन पक्ष, चर्या और साधन का पालन करते हुए हिंसादि पापों का स्पर्श भी नही होता है। इस प्रकार ऊपर की गई आशंका का परिहार हो जाता है।[7]

कदाचित् यह विवेचन ही श्रावक के विविध भेदों का आधार बना तथा इसी के आधार पर पं. आशाधर ने सागारधर्मामृत में तथा पश्चातवर्ती अन्य अनेक श्रावकाचारों में श्रावक के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिसको जैन धर्म का पक्ष होता है वह पाक्षिक, जो व्रतों में अभ्यस्त हो जाता है वह नैष्ठिक तथा जो समाधिमरण का साधन करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।

नैष्ठिक श्रावक का स्वरूप – नैष्ठिक शब्द निष्ठा शब्द से निष्पन्न हुआ है। जो श्रावक पूरी निष्ठा से व्रतों का पालन करता है, वह नैष्ठिक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक के स्वरूप का विवेचन करते हुए पं. आशाधर ने कहा है–

''देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः।
दर्शनकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः।।''[8]

अर्थात् देशसंयम का घात करने वाली कषायों की क्षयोपशम की क्रमशः वृद्धि के वश से श्रावक के दार्शनिक आदि ग्यारह संयम स्थानों के वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा गया है कि दोषों का प्रायश्चित करके पुत्र पर कुटुम्ब का भार सौंपकर गृहत्याग करने वाले के नैष्ठिक धर्म उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शनादि तथा दश धर्मों का एक देश पालन करने वाला नैष्ठिक

श्रावक कहलाता है। वह साधक के उच्च पद को इच्छुक होता है।[9] श्री अभ्रदेव का कहना है कि जो गुरुओं की साक्षी से व्रतों को ग्रहण करके जीवन भी पालता है। इस प्रकार की निष्ठा वाली आत्मा को नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।[10]

पाक्षिक श्रावक के विशेष रूप से जिन धर्म का पक्ष होता है, किन्तु कुलाचार के रूप में वह भी व्रतों का पालन तो करता ही है। नैष्ठिक श्रावक में इतनी विशेषता अवश्य होती है कि वह व्रतों का निरतिचार परिपालन करता है, जबकि पाक्षिक श्रावक में कदाचित् दोष लग जाते हैं। पं. आशाधर ने कहा है—

"दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः।
स्खलन्नापिक्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः।।"[11]

अभिप्राय यह है कि कृष्ण, नील एवं कापोत दुर्लेश्याओं में से किसी के वेग से किसी समय इन्द्रिय के विषय में उत्कण्ठित तथा मूल गुण में अतिचार लगाने वाला गृहस्थ पाक्षिक तो हो सकता है, नैष्ठिक ऐसा नही हो सकता है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार में चार निक्षेपों के द्वारा श्रावकों के चार भेद करते हुए कहा गया है कि जिन पुरुषों ने व्रतों को धारण नहीं किया है किन्तु गुरूजनों से व्रत आदि की चर्चा सुनते हैं, वे नाम श्रावक हैं। जो गुरूजनों से व्रत आदि को ग्रहण करके भी पालते नही हैं, वे स्थापना श्रावक हैं। जो श्रावक के आचार से युक्त हैं, दान पूजन आदि करते हैं, वे द्रव्य श्रावक हैं। जो भाव से व्रतों से सम्पन्न हैं और श्रावकाचार के पालन में सदा जागरूक रहते हैं, वे भाव श्रावक हैं।[12] नैष्ठिक श्रावकों की गणना भावश्रावकों में की गई है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि जब तक सम्यग्दर्शन प्रकट नही हुआ है, तब तक व्रतों का पालन करने वाला भी द्रव्य श्रावक ही है। भाव श्रावक तो नियम से सम्यग्दर्शन सम्पन्न ही होता है। पं. आशाधर जी ने जैनत्व के गुणों से रहित नाम मात्र के जैन को भी अजैन लोगों से श्रेष्ठ कहा है तथा नाम की अपेक्षा स्थापना जैन को, स्थापना जैन की अपेक्षा द्रव्य जैन को तथा उसकी भी अपेक्षा भाव जैन को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ महापुरुष कहा है।[13]

नैष्ठिक श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ — नैष्ठिक श्रावक की निचली दशा से क्रमशः ऊपर उठती हुई ग्यारह श्रेणियां होती है, जिन्हें चारित्र विषयक ग्रन्थों

में ग्यारह प्रतिमायें कहा गया है। स्वामी कार्तिकेय के अनुसार ग्यारह प्रतिमायें इस प्रकार हैं–1. दार्शनिक, 2. व्रतिक, 3. सामायिकी, 4. प्रोषधोपवासी, 5. सचित्तविरत, 6. रात्रिमुक्तिविरत, 7. ब्रह्मचारी, 8. आरम्भविरत, 9. परिग्रहविरत, 10. अनुमतिविरत 11. उद्दिष्ट-विरत।[14] पं. आशाधर, आचार्य अमितगति और श्री नामदेव आदि ने छठी रात्रिमुक्तिविरत प्रतिमा के स्थान पर दिवामैथुनत्याग प्रतिमा को स्वीकार किया है।[15] समन्तभद्राचार्य के अनुसार आगे-आगे की श्रेणी पूर्व गुण को लिये हुए वृद्धि को प्राप्त होती है अर्थात् इनमें क्रम का उल्लंघन नही होता है।[16]

दिगम्बर परम्परा में श्री सोमदेव को छोड़कर सभी ने सचित्तत्याग को पॉचवीं प्रतिमा और आरंभत्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। परन्तु सोमदेव ने इन्हें परस्पर परिवर्तित करके सचित्तत्याग को आठवीं प्रतिमा कहा है तथा कृषि आदि आरंभ के त्याग को पॉचवीं प्रतिमा कहा है।[17] सोमदेव का यह कथन तार्किक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि सचित्त भोजन और स्त्रीसेवन का त्यागी होने के पश्चात् कोई कृषि आदि आरंभ वाली क्रियाओं को कैसे कर सकता है? इसी कारण उन्होंने आरंभत्याग के स्थान पर सचित्तत्याग और सचित्तत्याग के स्थान पर आरंभत्याग प्रतिमा को कहा है।

श्री पं. गोविन्द द्वारा प्रणीत पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार में श्रावक की प्रतिमाओं को क्रम से तथा अक्रम से भी धारण करने का विधान किया गया है, जबकि अन्य सभी श्रावकाचारों में क्रम से ही प्रतिमाओं को धारण करने का स्पष्ट विधान किया गया है। पं. गोविन्द ने कहा है–

> **"सुदृष्टिः प्रतिमाः काश्चित् क्रमात्काश्चिद्विना क्रमम्।**
> **दधदप्येति संविग्नः कतिचिद्भिः भवैः शिवम्।।"**[18]

अर्थात् कोई दर्शन प्रतिमा का धारक सम्यग्दृष्टि जीव इन प्रतिमाओं को क्रम से धारण करता है और कोई उनको बिना क्रम के भी धारण करता है, फिर भी वह संविग्न श्रावक कुछ भवों में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

ग्यारह प्रतिमाएँ

1. **दर्शन प्रतिमा** – जो अतिचाररहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, संसार,

शरीर और इन्द्रिय के भोगों से विरक्त है, पञ्च परमेष्ठी के चरणों की शरण को प्राप्त है और तात्त्विक सन्मार्ग को ग्रहण करने में रुचि रखता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक कहलाता है।[19] दर्शन प्रतिमा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पं. गोविन्द ने लिखा है–

> **"न विना दर्शनं शेषाः प्रतिमा विधृता अपि।**
> **शिवाय नु प्रजायन्ते भवैरपि परःशतैः।।**
> **ज्ञात्वेति दर्शनं धृत्वा निर्मलं विमलाशयैः।**
> **शेषाः धार्याः यथाशक्ति प्रतिमाः प्राणिरक्षकैः।।"**[20]

अभिप्राय यह है कि दर्शन प्रतिमा के बिना शेष धारण की गई भी प्रतिमायें सैकड़ों भवों के द्वारा भी मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति के लिए नहीं होती हैं। ऐसा जानकर निर्मल अभिप्राय वाले प्राणियों की रक्षा करने वाले मनुष्यों को निर्मल दर्शन प्रतिमा को धारण करके ही शेष प्रतिमाएँ शक्ति के अनुसार धारण करना चाहिए।

2. व्रत प्रतिमा – इस प्रतिमा का धारक व्रती दर्शन प्रतिमा में कथित गुणों का पालन करता हुआ पञ्चाणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है, तीन गुण-व्रतों तथा चार शिक्षाव्रतों का भी निःशल्य होकर निरतिचार पालन करता है। समन्तभद्राचार्य ने कहा है–

> **"निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।**
> **धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः।।"**[21]

स्वामी कार्तिकेय ने इन व्रतों के साथ-साथ ज्ञानी होना भी व्रती का लक्षण माना है।[22] लाटी संहिता में दूसरी प्रतिमाधारी के लिए रात्रि में लम्बी दूरी के आने-जाने का निषेध किया गया है तथा घोड़ा आदि सवारी करके दिन में भी गमन करने का निषेध किया गया है। लाटीसंहिताकार का विचार है कि सवारी पर चढ़कर जाने में ईर्या संशुद्धि कैसे संभव हो सकती है?[23]

3. सामायिक प्रतिमा – सामायिक नामक तीसरी प्रतिमा का धारी श्रावक चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथाजात रूप से अवस्थित ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक, मन-वचन-काय की

शुद्धि वाला तथा प्रातः मध्याह्न और सायंकाल तीनों संध्याओं में वन्दना करने वाला होता है।[24] महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने सामायिक के स्थान पर सकता शब्द का प्रयोग किया है[25] तथा श्री सोमदेव ने पूजा पर विशेष जोर देते हुए अर्चा शब्द का प्रयोग किया है।[26] सामायिक नामक इस तीसरी प्रतिमा में सामायिक नामक शिक्षाव्रत की पूर्णता तथा उसका निरतिचार परिपालन आवश्यक है। दूसरी प्रतिमा में सामायिक एक शिक्षाव्रत के रूप में थी, इसमें कालिक बन्धन भी नही था। तीसरी प्रतिमा में सामायिक तीनों सन्ध्याओं में आवश्यक मानी गई है। सामायिक का जघन्य काल 2घड़ी (48 मिनट या/मुहूर्त) तथा उत्कृष्ट काल 6घड़ी (2 धण्टा 24 मिनट या 3 मुहूर्त) माना गया है।

समन्तभद्राचार्य ने तीसरी प्रतिमाधारी को यथाजात रूप धारण कर सामायिक करने का निर्देश किया है। चामुण्डराय एवं वामदेव ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[27] इससे स्पष्ट होता है कि तीसरी प्रतिमाधारी को सामायिक एकान्त में नग्न होकर करने की परिपाटी रही है।

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा – जिस प्रकार प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक के आधार पर तीसरी प्रतिमा अवलम्बित थी, उसी प्रकार प्रोषधोपवास नामक द्वितीय शिक्षाव्रत के आधार पर यह चौथी प्रतिमा अवलम्बित है। जो श्रावक माह के चारों पर्व (अष्टमी एवं चतुर्दशी) के दिनों में यथाशक्ति धर्मध्यान में तत्पर होकर एकाशनपूर्वक उपवास करता है, वह प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी श्रावक है।[28] प्रोषध शब्द का अर्थ समन्तभद्राचार्य ने सकृद्भुक्ति अर्थात् एकाशन किया है। उपवास के दिन श्रावक को सब आरंभ त्यागकर मुनि के समान दिन-रात धर्मध्यान करना चाहिए। इस चौथी प्रतिमा में नियत समय तक प्रोषधोवास का निरतिचार परिपालन आवश्यक माना गया है।

शिक्षाव्रत के अन्तर्गत प्रोषधोपवास अभ्यास रूप था किन्तु चौथी प्रतिमा में पालन अनिवार्य है। स्वामी कार्तिकेय ने शिक्षाव्रत में उपवास की शक्ति न होने पर एक बार नीरस आहार लेने की छूट दी है, पर प्रतिमा में नहीं। आचार्य वसुनन्दी ने चौथी प्रतिमा के स्वरूप में उत्तम, मध्यम एवं जघन्य रूप से 16,12 और 8 प्रहर के उपवास का हीनाधिक शक्ति वाले श्रावकों को विधान किया है परन्तु शेष सभी ने 16 प्रहर का उपवास आवश्यक माना है।[29]

5. सचित्त विरति प्रतिमा – सभी श्रावकाचारों में सचित्तविरति को पाँचवीं प्रतिमा माना गया है, परन्तु सोमदेव ने इसे आठवीं प्रतिमा मानकर अन्यों द्वारा मान्य आठवीं प्रतिमा आरंभत्याग को पॉचवीं प्रतिमा स्वीकार किया है।

सचित्तविरति प्रतिमा का धारक श्रावक मूल, फल, साक आदि वनस्पति के किसी भी भाग को अग्नि से संस्कारित किये बिना सेवन नही करता है।[30] वह जल भी उबालकर प्रासुक होने पर ही पीता है। स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है कि जो दयालु श्रावक मूल, फल, शाक, शाखा, कोंपल, वनस्पति का मूल, फूल एवं बीजों को अपक्व दशा में नहीं खाता है, वह पञ्चम प्रतिमाधरी सचित्तविरत है।[31] यद्यपि भोगोपभोगपरिमाणव्रत में भी सचित्त भोजन को छुड़ाया गया है, परन्तु वहाँ अतिचार मानकर त्याग कराया गया है, जबकि यहाँ व्रत रूप से उसका निरतिचार त्याग होता है।[32] सचित्तविरति से इन्द्रियसंयम एवं प्राणिसंयम दोनों का परिपालन हो जाता है, क्योंकि उबली वनस्पतियों से स्वादलोलुपता कम हो जाती है।

6. रात्रिभुक्तिविरति/दिवा-मैथुनत्याग प्रतिमा – स्वामी समन्तभद्र का मत है कि जो व्यक्ति प्राणियों पर दयार्द्र चित्र होकर रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेहय चारों प्रकार के आहार को नहीं खाता है वह रात्रिभुक्तिविरत श्रावक है।[33] आचार्य वसुनन्दि ने छठी प्रतिमा को दिवा मैथुनत्याग के रूप में ग्रहण करते हुए कहा है कि जो मन, वचन, काय से कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा नव प्रकार से दिन में मैथुन का त्याग करता है, वह प्रतिमानुकूल गुणों में छठा श्रावक अर्थात् छठी प्रतिमाधारी श्रावक है।[34] रात्रिभोजन करने वाले मनुष्य के तो ग्यारह प्रतिमाओं में पहली प्रतिमा भी नहीं होती है, इसलिए रात्रिभोजन का त्याग तो होना ही चाहिए। भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म अस्थि, कीट-पतंग, सर्प, केश आदि रात में कुछ भी दिखाई नही देते हैं, अत. रात्रिभोजी इन सबको खा जाता है। यदि दीपक जलाया जाता है तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य गिरते हैं। इस प्रकार के कीट-पतंग युक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपने नाश का कारण बनता है और परभय में चतुर्गति एवं संसार के दुःखों को पाता है। इस प्रकार रात्रि भोजन में बहुत प्रकार के दोष जान

करके मन-वचन-काय से रात्रिभोजन का परिहार करना चाहिए।[35] आचार्य जिनसेन छठी प्रतिमा को "अहःस्त्रीसङ्गवर्जनम्" कहकर, आचार्य सोमदेव ने "दिवामैथुनत्याग" एवं "दिवामैथुनविरत" कहकर ही उल्लिखित किया है।[36] अमितगति श्रावकाचार तथा संस्कृत भावसंग्रह में इस प्रतिमाधारी को दिवा ब्रह्मचारी कहा गया है।[37]

लाटीसंहिता में छठी प्रतिमाधारी के लिए रोगादि की शान्ति के लिए रात में गन्ध-माल्य, विलेपन एव तैलाभ्यङ्ग आदि का निषेध किय गया है तथा पं. दौलतराम ने छठी प्रतिमाधारी के लिए रात्रि में गमनागमन तथा अन्य आरंभ कार्यों के करने का निषेध किया है।[38]

छठी प्रतिमा में प्रयुक्त भुक्ति शब्द भोजन एवं सेवन दोनों अर्थों में प्रचलित होने के कारण ही कुछ आचार्यो ने रात्रि मे भोजनत्याग तथा कुछ ने दिवा मैथुन त्याग के रूप में उसका विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, आ. समन्तभद्र आदि ने भुक्ति का भोजन अर्थ मानकर ही इस प्रतिमा का वर्णन किया है, जबकि वसुनन्दि एवं पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने दिवामैथुनत्याग के रूप में छठी प्रतिमा का वर्णन किया है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा – समन्तभद्राचार्य के अनुसार जो पुरुष मल बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला, दुर्गन्धयुक्त एवं बीभत्स मानकर स्त्री सेवन से पूर्ण विराम ले लेता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक हैं।[39] इस भूमिका में नैष्ठिक श्रावक मन, वचन, काय से स्त्रीमात्र के संसर्ग का त्याग कर देता है[40] तथा पूर्ण सादगी के साथ जीवन बिताता है। वह गृहस्थी के *कार्यों में प्रायः उदासीन हो जाता है।*

8. आरंभविरति प्रतिमा – *जब सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा मे भोगोपभोग के* प्रधान साधन तथा सचित्त भोजन के पश्चात् वह स्त्री का सर्वथा परित्याग कर देता है। तब धन स्पृहा न रहने से वह आठवीं प्रतिमा में असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि सभी आरंभों का त्याग करके आरंभ विरत नैष्ठिक श्रावक कहलाने लगता है। आचार्य अकलंकदेव ने प्राणघात आदि के लिए कार्य प्रारंभ कर देने को आरंभ कहा है।[41] समन्तभद्राचार्य का कहना है कि आरंभविनिवृत्त

श्रावक जीवहिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरंभ से निवृत्त होता है।[42] स्वामी कार्तिकेय ने इसमें कृत, कारित एवं अनुमोदना का भी समावेश किया है।[43] आरंभविनिवृत्त श्रावक आजीविका छोड़कर पूर्व अर्जित सीमित सम्पत्ति से ही अपना जीवन-यापन करता है।

9. परिग्रहविरति प्रतिमा – समन्तभद्राचार्य के अनुसार जो व्यक्ति बाह्य दशधा परिग्रहों में ममत्व छोड़कर निर्ममत्व से प्रेम करता है, वह परिग्रहविरति प्रतिमा का धारी श्रावक है।[44] वसुनन्दि ने भी कहा है कि जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर वाकी परिग्रह का त्याग कर देता है तथा वस्त्र में भी ममत्व नही रखता है, वह नवमी प्रतिमा का धारक श्रावक है।[45]

नवमी प्रतिमा का धारक यद्यपि सब कुछ पुत्रों को सौंपकर गृहस्थी के कार्यो से मुक्त हो जाता है किन्तु उदासीन होकर घर में ही रहता है तथा पुत्रादि के द्वारा परामर्श मागने पर धर्मानुकूल परामर्श भी देता है। परन्तु वह सन्तोष की पराकाष्ठा में जीता है। गुणभूषण ने नवमी प्रतिमाधारी के लिए वस्त्र के अतिरिक्त सभी परिग्रह के त्याग का विधान किया है तथा प. दौलतराम ने अपने क्रियाकोष में उसे काष्ठ एवं मिट्टी का पात्र रखने और धातुपात्र का त्याग करने का स्पष्ट कथन किया है।[46]

10. अनुमति विरति प्रतिमा – दसवीं प्रतिमा का धारी व्यक्ति प्रायः घर में न रहकर मन्दिर, चैत्यालय आदि एकान्त स्थानों में रहता है तथा स्वाध्याय में अपना मन लगाता है। वह घर या साधर्मी बन्धु का निमन्त्रण मिलने पर ही भोजन ग्रहण करता है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार आरंभ, परिग्रह अथवा लौकिक कार्यो में जिसकी अनुभोदना भी नही होती है तथा जो समभाव का धारक है, वह अनुमतिविरत श्रावक कहलाता है।[47] पुरुषार्थनुशासन नामक श्रावकाचार में दसवीं प्रतिमाधारी के पाप कार्यो या गृहारंभों में अनुमति देने का निषेध तथा पुण्य कार्यो में अनुमति देने का विधान विस्तार पूर्वक किया गया है।[48]

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा – यह श्रावक की उत्कृष्टतम भूमिका है। ग्यारहवी प्रतिमा का धारी घर से मुनियों के निवास वाले वन में जाकर और गुरू के

समीप व्रतों को ग्रहण करके भिक्षा वृत्ति से आहार ग्रहण करते हुए तपस्या करता है तथा वस्त्रखण्ड को धारण करता है।[49]

वर्तमान में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद स्वीकृत हैं–क्षुल्लक और ऐलक। ये दो भेद कब से हुये-यह विचारणीय है। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्राचार्य, स्वामी कार्तिकेय, सोमदेव, चामुण्डराय, अमितगति आदि ने ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद नहीं कियें हैं। पश्चाद्वर्ती वसुनन्दि, पं. आशाधर, मेधावी एवं गुणभूषण आदि ने दो भेद मानकर ग्यारहवीं प्रतिमा का विवेचन किया है। सकलकीर्ति ने ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहकर उसे सद्धातु का कमण्डलु और छोटा पात्र रखने का विधान किया है। उन्होंने उसे मुहूर्त प्रमाण निद्रा लेने का कथन किया है। लाटी संहिता और पुरुषार्थानुशासन में क्षुल्लक को सहजप्राप्त प्रासुक द्रव्य से पूजन करने का भी विधान किया गया है। वर्तमान में क्षुल्लक लंगोट के साथ एक खण्डवस्त्र भी धारण करता है, जबकि ऐलक मात्र एक लंगोट ही धारण करता है। क्षुल्लक और ऐलक मे अन्तर इस प्रकार देखा जा सकता है।

क्षुल्लक	ऐलक
1. क्षुल्लक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी प्रथमोत्कृष्ट श्रावक हैं।	ऐलक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी चरमोत्कृष्ट श्रावक है।
2. ग्यारहवीं प्रतिमा के सर्वप्रथम दो भेद वसुनन्दि श्रावकाचार में मिलते हैं। पर प्रथमोत्कृष्ट श्रावक का क्षुल्लक नाम सत्तरहवीं शदी के राजमल्ल ने लाटी संहिता में सर्वप्रथम दिया है।	द्वितीयोत्कृष्ट या चरमोत्कृष्ट श्रावक का ऐलक नाम राजमल्ल लिखित लाटी संहिता में सर्वप्रथम दिया गया है।
3. वसुनन्दि ने प्रथम उत्कृष्ट श्रावक को एक वस्त्रधारक कहा है।	द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक को मात्र कौपीन धारक कहा है।
4. क्षुल्लक शब्द का अर्थ स्वल्प या	ऐलक कदाचित् अचेलक का

	कनिष्ठ है। इससे कनिष्ठ उत्कृष्ट श्रावक अर्थ लिया जा सकता है।	विकसित (अपभ्रष्ट) रूप हैं, जिसका अर्थ ईषत् (नाम मात्र) वस्त्रधारी है। अचेलक शब्द नञ् समास में मुनियों को भी प्रयुक्त है।
5.	क्षुल्लक दो प्रकार के होते रहे हैं– एक गृहभोजी और अनेक गृहभोजी। आजकल एक गृहभोजी क्षुल्लक ही मिलते हैं।	ऐलक एक गृहभोजी ही होते हैं।
6.	क्षुल्लक पात्र में भोजन करते हैं। कभी-कभी हाथ में भी कर लेते हैं।	ऐलक सर्वदा पाणिपात्र ही होते हैं।
7.	क्षुल्लक केशलोंच करते है, पर कैंची से भी बाल कटवा सकते हैं।	ऐलक नियम से केशलोंच ही करते हैं।
8.	क्षुल्लक के लिए पिच्छिका का नियम नही है।	ऐलक मयूरपंख की पिच्छिका रखते हैं।
9.	ग्यारहवीं प्रतिमाधारी स्त्रियाँ क्षुल्लिका कहलाती हैं। वे एक साडी एवं एक खण्ड वस्त्र रखती हैं तथा पात्र में ही भोजन करती हैं।	स्त्रियों में ऐलक जैसा कोई भेद नहीं है।

क्षुल्लक और ऐलक दोनों उत्कृष्ट श्रावकों की शेष सब क्रियाएँ समान होती हैं।

नैष्ठिक श्रावक की विविधता – ग्यारह प्रतिमाओं में पहली से छठी प्रतिमा तक के धारक श्रावक जघन्य नैष्ठिक, सातवीं से नवमीं प्रतिमा तक के धारक श्रावक मध्यम नैष्ठिक तथा दसवीं एवं ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक उत्कृष्ट नैष्ठिक कहलाते हैं। श्री चामुण्डरायम ने कहा भी है–

'आद्यास्तु षट् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनुत्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमाभुक्तौ जैनेषु जिनशासने।।'[50]

आचार्य सोमदेव ने उक्त विविध श्रावकों को क्रमशः गृही, ब्रह्मचारी और भिक्षुक नाम दिये है। यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में कहा गया है–

'षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः।।'[51]

अर्थात् पहले की छह प्रतिमाओं के धारक गृही कहे जाते हैं। तीन, सातवीं, आठवीं एवं नवमी प्रतिमाओं के धारक ब्रह्मचारी कहलाते हैं तथा दो, दसवीं एवं ग्यारहवीं प्रतिमाओं के धारी भिक्षुक कहे गये हैं। उसके पश्चात् सब मुनि होते हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि संयमप्रकाश में प्रथम से षष्ठ प्रतिमाधारी को नैष्ठिक, सप्तम से नवम प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी तथा दशम एवं एकादश प्रतिमधरी को साधक कहा गया है।52

सभी प्रतिमाओं की त्रिविधता – आचार्य जयसेन द्वारा विरचित धर्मरत्नाकार में प्रत्येक प्रतिमा का वर्णन उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से भी किया गया है। अतः प्रत्येक प्रतिमा में भी तारतम्य है। संक्षेप में इनके तारतम्य को इस प्रकार देखा जा सकता है–

1. **दर्शन प्रतिमा**

   उत्तम–सप्तव्यसन त्याग, रात्रिभोजन त्याग तथा निरतिचार मूलगुणपालन
   मध्यम–रात्रिभोजन त्याग तथा मूलगुण धारण।
   जघन्य–व्रतधारण की भावना, निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण।

2. **व्रत प्रतिमा**

   उत्तम–सम्यग्दर्शनपूर्वक निरतिचार अणुव्रत एवं गुणव्रत पालन।
   मध्यम–मूलगुणों का पालन।
   जघन्य–केवल अणुव्रतों का पालन।

3. **सामायिक प्रतिमा**

उत्तम–दोष एवं अतिचार रहित त्रिसंध्या में नियत समय तक सामायिक।
मध्यम–अणुव्रत-गुणव्रतों का निर्दोष पालन किन्तु सामायिक में दोष।
जघन्य–अणुव्रत-गुणव्रत में अतिचार तथा सामायिक में भी दोष।

4. **प्रोषधोपवास प्रतिमा**

उत्तम–चारों पर्वो में 16 प्रहर का निर्दोष उपवास, कायोत्सर्ग निर्भय होकर।
मध्यम–12 या 8 प्रहर वाला उपवास, प्रतिमायोग का अधारण।
जघन्य–यथा कथंचित् उपवास का धारण।

5. **सचित्तत्याग प्रतिमा**

उत्तम–नवधा सचित्त का यावज्जीवन त्याग।
मध्यम–प्रोषधोपवास के दिन ही सचित्त का त्याग।
जघन्य–सचित्त वस्तुओं का यथा कथंचित् त्याग।

6. **दिवामैथुनत्याग प्रतिमा**

उत्तम–दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का परिपालन।
मध्यम–क्वचित्-कदाचित् स्वस्त्री के साथ दिन में हंसी-मजाक।
जघन्य–यथा कथंचित् दिन में मैथुन त्याग।

7. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**

उत्तम–नवधा निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन।
मध्यम–वचन एवं काय से ब्रह्मचर्य का पालन।
जघन्य–ब्रह्मचर्य का यथा कथंचित् पालन।

8. **आरम्भत्याग प्रतिमा**

उत्तम–आरंभ का त्याग, स्वीकृत धन का दान, घर में उदासीन।
मध्यम–पूर्वप्रतिमाओं का सदोष किन्तु प्रकृत का निर्दोष पालन।
जघन्य–पूर्व प्रतिमाओं तथा प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।

9. **परिग्रहत्याग प्रतिमा**

उत्तम–संयम के साधन के अतिरिक्त परिग्रह का त्याग।

मध्यम–त्यक्त परिग्रह में कदाचित् ममत्व भाव।
जघन्य–पूर्व एवं प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।

10. अनुमतित्याग प्रतिमा

उत्तम–लौकिक कार्यो में स्वजनों को अनुमति का पूर्ण त्याग।
मध्यम–कदाचित् स्वजनों को लौकिक कार्यो में अनुमति।
जघन्य–पूर्व एवं प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा

उत्तम–उद्दिष्ट आहार-पान का यावज्जीवन त्याग तथा निर्दोष पालन।
मध्यम–कभी-कभी उद्दिष्ट त्याग में दोष।
जघन्य–पूर्व एवं प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।[53]

उपर्युक्त "ग्यारह प्रतिमाओं के धारकों को नैष्ठिक कहते है और जीवन के अन्त मे समाधिमरण कर आत्मार्थ के साधन करने वालों को साधक कहते हैं। अतः नैष्ठिक श्रावक बनने और समाधिमरण करने की प्रतिदिन भावना करनी चाहिए।"[54]

यहॉ यह कथ्य है कि श्रावक का प्रतिमाओं के आधार पर वर्णन श्रावक के माप या उसके आगे-आगे विस्तार को जानने के लिए किया गया है। प्रतिमा शब्द का अर्थ माप या विस्तार भी है।[55]

सन्दर्भ

1 अभिधानराजेन्द्रकोश, सप्तम भाग, सावय शब्द, पृष्ठ 779, 2 वही,

3 श्रावकाचारसग्रह, भाग-4 प्रस्तावना पृष्ठ 59 से उद्धृत, 4 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 33

5 वही, श्लोक 136 की उत्थानिका,

6 पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्रपाक्षिक ।
तद्धर्मगृहयस्तान्निष्ठो नैष्ठिक साधक स्वयुक्। –सागार धर्मामृत, 1/20

7. महापुराण, 39/143-150, 8. सागार धर्मामृत, 3/1

9 दोष सशोध्य सजातं पुत्रे न्यस्य निजान्वयम्।
त्यजत सद्य चर्यासयान्निष्ठावान्नामभेदत ।।

दृष्ट्यादिदशधर्माणा निष्ठानिर्वहण मता।
तमाचरति य स. स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुक.।।
-धर्मसंग्रहश्रावकाचार, नैष्ठिक श्रावक

10. यावज्जीवं ये व्रता सन्ति साक्षीकृत्योपात्तास्ते सदा पालनीया·।
इत्थ प्रोक्ता सन्ति ये निष्ठितात्मा प्रख्यायन्ते नैष्ठिका· व्रतोधोतन श्रावकाचार, 260 श्रावकास्ते।।

11. सागाधरधर्मामृत, 3/4, 12. व्रतोद्योतनश्रावकाचार, 245-250, 13 सागारधर्मामृत, 2/54

14. दसणवय सामाइय पोसह सच्चित्त राइभक्ते य।
रभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठदेसविरदे दे।। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 69

15 सागारधर्मामृत 3/2-3, अमितगतिश्रावकाचार 72, सस्कृत भावसंग्रह , 98

16. श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणा पूर्वगुणै सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ।।
-रत्नकरण्डश्रावकाचार, 136

17. यशास्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 821

18 पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार, 6/94

19 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 137, 20 पुरुषार्थनुशासनगत श्रावकाचार, 6/95-96

21. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 138, 22 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 330

23 किञ्च रजन्या गमन न कर्तव्य दीर्घेऽध्वनि।
दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गे गतिः।।
अश्वाधारोहण मार्गे न कार्य व्रतधारिणा।
ईर्यासमितिसशुद्धि कुत सयात्तत्र कर्मणि।।
-लाटीसंहिता, सर्ग 4 श्लोक 223-224

24 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 139, 25 महापुराण 10/158,

26 यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 853

27 रत्नकरण्डश्रावकाचार 139, चारित्रसारगत श्रावकाचार सस्कृत भावसग्रह, 92

28. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 140

29 कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 57-58 एवं 72-77 तथा वसुनन्दिश्रावकाचार, 295

30 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 141, 31. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 379

32 वही, 381, 33 रत्नकरण्डश्रावकचार, 142

34 वसुनन्दिश्रावकाचार, 296, 35 वही, 314-318

36. महापुराण 10/159, यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 833 तथा सागारधर्मामृत 3/21

37. अमितगति श्रावकाचार 72, सस्कृत भावसंग्रह-98

38 'लाटी संहिता, प्रथम सर्ग 38-43
क्रियाकोष, ग्यारह व्रत वर्णन, 61-62

39 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 143, 40 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 384, 41 तत्त्वार्थवार्तिक, 8

42. रत्नकरण्डश्राकाचार, 144

43 कार्तिकेयानुप्रेक्ष, 385

44 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 145

45 वसुनन्दिश्रावकाचार, 299

46 श्रावकाचारसग्रह, भाग-2 पृ 454 श्लोक 73
'क्रियाकोष, ग्यारह व्रत वर्णन, 84-88

47 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 146

48 पुरुषार्थानुशासन, 60-70

49 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 147

50 चारित्रसारगत श्रावकाचार, शीलसप्तकवर्णन, श्लोक 20

51. यशास्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 824

52 सयमप्रकाश, उत्तरार्द्ध द्वितीय भाग पृ 558

53 द्रष्टव्य - धर्मरत्नाकर

54 श्रावकाचारसग्रह , भाग 4 प्रसतावना पृष्ठ 171

55 सस्कृत-हिन्दी कोष (शिवराम वामन आप्टे) प्रतिमा शब्द

अध्यक्ष - संस्कृत विभाग, एस.डी. कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

प्राचीन भारत में गुप्तचर-व्यवस्था

-डॉ. मुकेश बंसल

प्राचीन भारतीय साहित्य में गुप्तचर-व्यवस्था को राजनीति के संचालन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। गुप्तचरों के माध्यम से ही राजा बाह्य तथा आन्तरिक भेदों की जानकारी प्राप्त करके उनके निराकरण का उपाय करने में समर्थ होता है। कालिदास ने गुप्तचरों को प्रकाश की किरणें कहा है। जिनके द्वारा शत्रु-राज्य की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त होती है।[1] किरतार्जुनीय महाकाव्य में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह उत्तम चरित्रवाले, विश्वासी और उन्नति करनेवाले गुप्तचरों की नियुक्ति करके उनके माध्यम से शत्रु-पक्ष के समाचारों की जानकारी प्राप्त करे।[2]

वल्हण ने गुप्तचरों को राजा के नेत्र माना है क्योंकि वे ही उन्हें सभी रहस्यों की जानकारी देते हैं।[3] जानकीहरण महाकाव्य में गुप्तचरों के संबंध में कहा गया है कि जो छिपकर विचरण करे, वही गुप्तचर है। वेश बदलकर या गुप्तरूप से विपक्षी के राज्य, सेना व नीतियों की जानकारी प्राप्त कर अपने स्वामी से निवेदन करना ही गुप्तचर का कार्यक्षेत्र है क्योंकि गुप्तचर से प्राप्त वृत्तांत पर ही राजा अपनी भावी नीति का निर्धारण करता है।[4] चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के शासन के प्रति लोगों की चित्तवृत्ति जानने के लिए निपुणक नामक गुप्तचर की नियुक्ति की थी।[5] राम ने दुर्मुख नामक गुप्तचर को अपने ही शासन की प्रतिक्रिया जानने के लिए नियुक्त किया था।[6]

गुप्तचरों के लिए विभिन्न नाम प्रयुक्त किये गये हैं। अर्थशास्त्र में इन्हें गूढपुरुष, शुक्रनीति में गूढाचार तथा अविमारक में चर एवं रात्रिचर नाम से पुकारा गया है।[7] गुप्तचर छद्म वेश में रहकर शत्रु-पक्ष के रहस्यों का उद्घाटन तथा राजा को गुप्त सूचनाएँ प्रदान करने के कारण राज्य की सुरक्षा में उपादेय

थे। गुप्तचरों की कार्यकुशलता पर राज्य की उन्नति ही नहीं वरन् अस्तित्व भी अविलम्बित था। गुप्तचर प्रमुख रूप से शत्रु-पक्ष के सैन्य-बल और युद्ध-संबंधी तैयारियों के संबंध में सूचनाएँ लाते थे।[8] राज्य-व्यस्था तथा प्रजा-व्यवहार की जानकारी के लिए भी गुप्तचरों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था।

गुप्तचरों की नियुक्ति

प्राचीन भारतीय महाकाव्यों और दृश्यकाव्यों में गुप्तचर की नियुक्ति-सम्बन्धी विवरणों से ज्ञात होता है कि राजा द्वारा ली गयी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही गुप्तचर, राजकीय सेवा में नियुक्त किये जाते थे, जिन्हें 'उपधाविशुद्ध' गुप्तचर कहा जाता था।[9] सामान्यतः गुप्तचरों को नियमित रूप से राज्य-सेवा में नियुक्त किया जाता था, जिन्हें स्थायी वेतन प्राप्त होता था किन्तु कभी-कभी आवश्यकतानुसार अस्थायी, अल्पकालीन अथवा आकस्मिक रूप से भी उनकी नियुक्ति की जाती थी और उनके कार्य के बदले राजकोष से पारिश्रमिक दिया जाता था। गुप्तचरों की नियुक्ति राजा का पुनीत कर्त्तव्य माना गया है किन्तु वह किस वर्ण अथवा वर्ग-विशेष के व्यक्तियों को गुप्तचर बनाए इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होते हें। इतनी जानकारी अवश्य मिलती है कि राजा जिस व्यक्ति को गुप्तचर पद पर नियुक्ति करे वह कुलीन परिवार से सम्बन्ध रखता हो तथा उसके सम्बन्ध में समाज में कोई अपवाद न फैला हो।[10] वेणीसंहार में यह विवरण अवश्य मिलता है कि राज्य द्वारा धीवर, शिकारी, ग्वाले, साधु आदि सभी प्रकार के लोगों से गुप्तचर का कार्य लिया जाता था।[11] किरातार्जुनीय महाकाव्य में वर्णन आया है कि राज्य से निष्कासित युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था व प्रजा-व्यवहार की जानकारी प्राप्त करने हेतु एक किरात को ब्रह्मचारी के वेष में भेजकर उसके माध्यम से राज्य की जानकारी प्राप्त की गयी थी।[12] बुद्धचरित महाकाव्य में गुप्तचर-व्यवस्था की गतिशीलता का वर्णन करते हुए बताया गया है कि गुप्तचरों को विविध कार्यो में नियुक्त करने का अधिकार पुरोहित तथा मंत्री के कार्यक्षेत्र में आता था।[13]

गुप्तचरों की योग्यता

प्राचीन भारतीय संस्कृत-महाकाव्यों और दृश्यकाव्यों में गुप्तचरों की योग्यता-संबंधी जानकारी प्राप्त होती है। महाकाव्य किरातार्जुनीय में कहा गया है कि गुप्तचर को सच्चा-मित्र, विश्वासी और राजा का आज्ञाकारी होना चाहिए।[14] विक्रमांकदेवचरति के अनुसार गुप्तचर नीतिशास्त्रों में निपुण, वाक्पटु और मृदुभाषी होने के साथ-साथ वस्तुस्थिति को समझनेवाला, प्रखरबुद्धि और स्वामिभक्त होना चाहिए।[15] गुप्तचरों में यह भी योग्यता होनी चाहिए कि वे दूसरे पक्ष के दोषों को तो जान ले किन्तु उनके दोषों को कोई न समझ पाये, वे शत्रुपक्ष में इस प्रकार घुलमिल जायें कि सभी उन पर विश्वास करने लगें और वे वहाँ से भी वेतन पाते रहें। मुद्राराक्षस में कहा गया है कि गुप्तचरों को कुलीन राजभक्त, विश्वसनीय, वेश आदि बदलने में निपुण, विभिन्न देशों के वेश, भाषा, रीति-रिवाज, मार्ग आदि जानने में दक्ष, विभिन्न कलाओं में पारंगत तथा स्वपक्ष एवं परपक्ष के विचारों को जानने में कुशल होना चाहिए।[17] वेणीसंहार नाटक के अनुसार वे गुप्तचर योग्य होते हैं जो वेश और बोली परिवर्तन में दक्ष हों, अव्यक्त पद-चिन्हों का ज्ञान रख सके. कुचली हुई लताओं को परख सके, विभिन्न प्रकार की गुफाओं का ज्ञान रखते हों तथा दूसरों की पद-पंक्ति पहचानने में चतुर हो।[18]

गुप्तचरों का वेश

वेश-परिवर्तन में चतुर गुप्तचर देश काल तथा परिस्थितियों के अनुसार अपने असली रूप में न रहकर नकली वेश में विचरण करते थे। राजा अथवा राज्य की ओर से भी वेश-परिवर्तन एवं उनके क्रियाकलापों के विषय में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। गुप्तचर विविध वेश धारण करके और शत्रु के साथ घुल-मिल कर अपना अभीष्ट सिद्ध करने का प्रयास करते थे।

संस्कृत साहित्य में वनचर, पुलिन्द, तापस, अंगारिक आदि वेश में विचरनेवाले गुप्तचरों का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र में भी गुप्तचरों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता हैं, जो कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, क्षत्री-तीक्ष्ण, रसद, भिक्षु आदि वेश धारण करके विभिन्न रूपों

को प्राप्त कर सकते थे। इन गुप्तचरों द्वारा भिक्षुणियों, वेश्याओं और ज्योतिषियों आदि का रूप भी धारण कर लिया जाता था, जिससे वे किसी भी भेद की सहजता से जानकारी प्राप्त कर सके।[19] दृश्यकाव्य मुद्राराक्षस में गुप्तचरों के वेश-परिवर्तन तथा उसकी कार्य-क्षमताओं का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[20] यथा–

निपुणक–यम-पात्र लेकर गली-गली घूमनेवाले निपुणक को, स्वयं चाणक्य का शिष्य भी नहीं पहचान सका था।

सिद्धार्थक–चाणक्य द्वारा नियुक्त सिद्धार्थक शकटदास के मित्र के रूप में विचरण करता हुआ बताया गया है।

विराधगुप्त–राक्षस द्वारा नियुक्त यह गुप्तचर आहितुण्डिक सपेरे के रूप में विचरण करता हुआ बताया गया है एक क्षण के लिए स्वयं राक्षस भी उसे न पहचानते हुए, संशय में पड़ गया था।

शिल्पी दारुवर्मा–राक्षस द्वारा नियुक्त यह गुप्तचर, चन्द्रगुप्त के वध के उद्देश्य से रचित षड्यंत्र में शामिल था।

बर्वरक–चन्द्रगुप्त का महावत बर्वरक, राक्षस द्वारा नियुक्त छद्मवेशधारी गुप्तचर था।

विभीत्सक–चन्द्रगुप्त के शयन-कक्ष की दीवार के भीतर गुप्त रूप से छिपे हुए, रात्रि में सोते हुए चन्द्रगुप्त पर प्रहार करने वाले व्यक्तियों में, विभीत्सक भी एक गुप्तचर था, जो राक्षस द्वारा नियुक्त किया गया था।

गात्रसेवक–प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक में वासवदत्ता की हथिनी भद्रवती का महावत बनकर रहनेवाला, यौगन्धरायण द्वारा नियुक्त, गुप्तचर गात्रसेवक मदिरा न पीते हुए भी मदोन्मत्त व्यक्ति के समान प्रलाप करता हुआ बताया गया है।[21]

गुप्तचर न केवल विविध वेश-परिवर्तन कर सकते थे अपितु विविध भाषाओं के भी जानकार होते थे। गुप्तचरों द्वारा सम्भाषण के लिए सामान्यतः

सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग किया जाता था।[22]

गुप्तचरों के कर्त्तव्य

गुप्तचरों का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता था, जिन्हें गुप्तचरों के कर्त्तव्यो की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। गुप्तचर का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपने स्वामी के प्रति निष्ठावान् होना माना गया है। किरातर्जुनीय महाकाव्य में अपने स्वामी में निष्ठा न रखनेवाले अथवा राजा को सुमंत्रणा न देनेवाले गुप्तचरों को योग्य सेवक नहीं माना गया है। अपने स्वामी के साथ कपट न करना गुप्तचरों का परम कर्त्तव्य माना गया है।[23]

शत्रु-राज्य में गुप्त-रूप से रहनेवाले गुप्तचरों का यह कर्त्तव्य था कि वे वहाँ की गतिविधियों पर कड़ी दृष्टि रखते हुए अपने प्रत्येक संदेश को गुप्त-रूप से स्वामी तक पहुँचाएँ। वस्तुतः शत्रु-राज्य में जाकर अपने स्वामी के कार्यो को सिद्ध करना ही गुप्तचरों का प्रमुख कार्य स्वीकार किया गया है। अभिषेक नाटक में स्वपक्ष और शत्रु-पक्ष के उच्च अधिकारियों की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने के साथ-साथ उनमें व शत्रु-सेना में परस्पर फूट डालना ही गुप्तचर का परम कर्त्तव्य माना गया है। रावण ने राम की सेना का अनुमान लगाने के लिए ही अपने गुप्तचरों को राम के शिविर में प्रविष्ट कराया था।[24] मुद्राराक्षस में कृत्य-पक्ष अर्थात् भीत, लुब्ध, क्रुद्ध और अपमानित लोगों को वश में करना भी गुप्तचरों का कर्त्तव्य बताया गया है।[25] किरातर्जुनीय महाकाव्य में विभिन्न उपायों से राजमहल की आन्तरिक गतिविधियों की सूचना राजा तक पहुँचाना गुप्तचर का कर्त्तव्य बताया गया है। दुर्योधन अपने गुप्तचरों के माध्यम से ही अन्य राजाओं का वृतांत प्राप्त करता था।[26]

गुप्तचरों का विशेषाधिकार

राज्यानुशासन का महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण गुप्तचरों को कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, जिनके कारण उनके पद की गरिमा द्विगुणित हो जाती थी। गुप्तचर अपने इन विशेषाधिकारों का प्रयोग स्वेच्छा से किसी भी समय कर सकता था। शत्रु-राज्य में राजा द्वारा भेजे गये समस्त गुप्तचरों को राज्य की ओर से समस्त सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार होता था। वे

जितनी मात्रा में चाहे धन, सेना, अश्व आदि प्राप्त कर सकते थे।[27] राजा जिन गुप्तचरों को शत्रु-राज्य में वेतनभोगी भृत्य के रूप में कार्य ग्रहण करने का आदेश देता था, उन गुप्तचरों की अनुपस्थिति में राज्य की ओर से उनके परिवार को आश्रय देकर उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाता था।[28] जहॉ गुप्तचर का राजा के प्रति स्वामिभक्त होना अनिवार्य था, वहीं राजा का भी यह कर्त्तव्य था कि वह अपने स्वामिभक्त गुप्तचरों की ओर पर्याप्त ध्यान देते हुए उन्हें प्रचुर मात्रा में धन और आदर-सम्मान प्रदान करें।

गुप्तचरों के भेद

गुप्तचरों के कार्यो को दृष्टिगत करते हुए सामान्यतः उनके दो भेद किये गये हैं—1. नागरिक गुप्तचर, 2. सैनिक गुप्तचर।

नागरिक गुप्तचरों की नियुक्ति राज्य की आन्तरिक सुरक्षा एवं सुव्यवस्था के लिए की जाती थी। ये राज्य में होनेवाली प्रत्येक घटना का ब्यौरा राजा के सम्मुख रखते थे।[29] नागरिक गुप्तचरों को किसी भी समय राजा के निकट जाने, यहॉ तक कि अन्तपुर में प्रवेश का भी अधिकार होता था। नागरिक गुप्तचर सामान्य वेषभूषा मे घूमकर प्रजा के विचारों को जानने का प्रयास करते थे तथा राज्य-व्यवस्था और प्रजा व्यवहार की जानकारी राजा को प्रस्तुत करत थे।[30] राज्य की आन्तरिक सुरक्षा की दृष्टि से विभिन्न षड्यन्त्रों की जानकारी प्राप्त करना इसका प्रमुख कर्त्तव्य था। इसके अतिरिक्त नागरिक गुप्तचर प्रजा के सुख-दुःख को भी राजा तक पहुँचाने का कार्य करते थे।[31]

सैनिक गुप्तचर, गुप्तचर-व्यवस्था के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग होते थे, जो अपने राज्य के साथ-साथ शत्रु राज्यों में होनेवाले सैनिक कृत्यों की जानकारी भी रखते थे। उनका प्रमुख कार्य विदेशी राज्यों में होनेवाली षड्यन्त्रकारी घटनाओं का समाचार राजा तक पहुँचाना होता था, जिसके लिए वे विभिन्न वेश धारण करके शत्रु-राज्य में विचरण करते थे। सैनिक गुप्तचरों के माध्यम से ही शत्रु-पक्ष की सैन्य व्यवस्था, सैन्य-प्रशिक्षण, सैन्य-कौशल एवं सैन्य-शक्ति का पता लगाने का प्रयास किया जाता था। सैनिक गुप्तचरों को विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे शत्रु-पक्ष के पुरुषों की मुखाकृति, बोलचाल,

कण्ठ, तालु और मूर्धा के उच्चारण से ही उनकी गतिविधियों को ज्ञात कर लेते थे। सैनिक गुप्तचर शत्रु-राज्य की सैन्य-शक्ति और वहां की जनता का मनोबल तोड़ने का भी प्रयास करते रहते थे।[32]

गुप्तचरों की कार्य-शैली

गुप्तचरों की सजगता पर ही उस देश की सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था निर्भर रहती थी। विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न गुप्तचर-दस्ते तैयार किये जाते थे, जो एक अधिपति के नेतृत्व में सदैव राज्य की सेवा के लिए तत्पर रहते थे। ये गुप्तचरदल विभिन्न माध्यमों से अपने स्वामी को गुप्त सूचनाएँ प्रेषित करते रहते थे। अनेक अवसरों पर निर्दिष्ट कार्य-हेतु महिला गुप्तचरों की नियुक्ति भी की जाती थी। शत्रु पक्ष का भेद निकालने के लिए गुप्तचरों को विभिन्न कार्यशैलियों को अपनाना होता था। मुद्राराक्षस नाटक में वर्णन आया है कि कहीं कोई गुप्तचर आहितुण्डिक (सपेरे) का रूप धारण किये हुए है, कोई क्षपणक (जैन साधु) बनकर विचरण कर रहा है, कोई यम देवता का भक्त बनकर यमपट्ट लिए घूम रहा है तो कोई शत्रुओं का विश्वस्त बनकर और उनसे ही वेतन प्राप्त कर उनका प्रमुख अधिकारी बन गया है।[33]

शत्रु-देश तथा शत्रु-सेनाओं में भेद लेने के लिए गुप्तचर, शत्रु-सैनिकों के वेश बनाते थे किन्तु अनेक बार भेद खुलने पर पकड़े भी जाते थे, जिस कारण उनको कड़ी यातनाएँ भी सहनी पड़ती थी और कभी-कभी तो उनका वध भी कर दिया जाता था। गुप्तचरों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था कि साथ रहने वाला व्यक्ति भी उनको न पहचान सके। गुप्तचर-व्यवस्था इतनी सुव्यस्थित होती थी कि गुप्तचर को भी यह नहीं पता होता था कि वे एक ही व्यक्ति द्वारा नियुक्त किये गये हैं। मुद्राराक्षस के विवरण से ज्ञात होता है कि चाणक्य का गुप्तचर बौद्ध संन्यासी के रूप में नियुक्त जीवसिद्धि, क्षपणक को भी नहीं पहचान सका था कि वे दोनों चाणक्य द्वारा ही नियुक्त थे।[34]

प्राचीन भारतीय गुप्तचर-व्यवस्था निःसन्देह उन्नत तथा विकसित अवस्था में थी। जब तक किसी राज्य की गुप्तचर-व्यवस्था सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रही और शत्रु-देश तथा पड़ौसी-राज्य में उसके गुप्तचर सक्रिय रहे, तब तक

उस राज्य का अस्तित्व बना रहा किन्तु यदि राजनीतिक आलस्य एवं प्रमाद-वश गुप्तचर-व्यवस्था लचर हुई, तो वह राज्य अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह सका।

सन्दर्भ-संकेत

1 रघुवश, 17/48, 2 किरातार्जुनीय, 1 20,
3 विक्रमाकदेवचरित, 14/28, 4 जानकीहरण, 14 1,
5 मुद्राराक्षस, अक-1, 6 उत्तररामचरित, अक-1,
7 अर्थशास्त्र, 1/11/1, शुक्रनीति, 1/36, अविमारक, 6 10,
8 प्रतिज्ञा, अक-3, 9 विक्रमाकदेवचरित, 1/1,
10. महाभारत, आदिपर्व, 139 63,
11 वेणीसहार, 6/2, 12 किरातार्जुनीय, 1/1,
13 बुद्धचरित, 9/82, 14 किरातार्जुनीय, 1/2,
15 विक्रमाकदेवचरित, 1/1, 16 शिशुपालवध, 2/113,
17 मुद्राराक्षस, अक-1, 18 वेणीसहार, 6/3-4,
19 अर्थशास्त्र, 1/10/6, 1 11 7, 20 मुद्राराक्षस, अक-1-2,
21 प्रतिज्ञा0, अक-4, 22 मुद्राराक्षस, अक-2,
23 किरातार्जुनीय, 1 4-5, 24 अभिषेक, 4/19,
25 मुद्राराक्षस, अक-4, 26 किरातार्जुनीय, 1/20,
27 अविमारक, 6/10, 28 प्रतिज्ञा0, अंक-1,
29 कुमारसभव, 3/17, 30 किरातार्जुनीय, 1 1,
31 रघुवश, 14/31,
32 शास्त्री, नेमिचन्द्र, महाकवि भास, पृ 443,
33 मुद्राराक्षस, अक-2, 34 मुद्राराक्षस, अक-1

-रीडर, इतिहास विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप और उसके भेद

-डॉ. कपूरचन्द जैन

संसार में जितने जीव हैं, वे सभी सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत रहते हैं। दौलतराम जी ने लिखा है–

'जे त्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहें दुःख तें भयवंत।'[1]

यद्यपि संसार में क्षणिक सुख दिखाई देता है किन्तु जीव की प्रवृत्ति स्थायी सुख को प्राप्त करने की ओर हो तभी उसका कल्याण हो सकता है। एक साधक साधना में लीन थे। किसी निकट भव्य ने जब उनसे कल्याण का मार्ग पूछा तो अचानक उनके मुख से करुणा वशात् यह सूत्र निकल पड़ा–

'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मौक्षमार्गः।'[2]

सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों से मिलकर मोक्ष का मार्ग है। एक-एक के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस पर से भव्य ने फिर प्रश्न किया सम्यग्दर्शन क्या है? परम दयालु महाराज ने कहा–

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'[3]

भव्य ने पुनः प्रश्न किया भगवन्! तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है यह तो ठीक है, पर वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न कैसे होता है वे कौन से तत्त्व हैं, जिन पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। मुनिराज ने कहा हे भव्य! वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अर्थात् उपदेशादि रूप बाह्य निमित्त के बिना और अधिगम अर्थात् उपदेश रूप बाह्य निमित्त से होता है। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से सम्यग्दर्शन और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है।

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा।'
'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।'
'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः।'[4]

भव्य ने प्रश्न किया। तत्त्वों के जानने के उपाय क्या हैं? मुनिराज ने कहा–**'प्रमाण नयैरधिगमः।'**[5]

अर्थात् प्रमाण और नयों से पदार्थो का ज्ञान होता है। इस प्रकार देखें तो प्रमाण और नय मोक्ष के साधन हैं।

प्रमाण की परिभाषा क्या हैं, और प्रमाणों की संख्या कितनी है इस विषय पर भारतीय दर्शनों में विस्तृत गवेषणा उपलब्ध होती है। भारतीय दर्शनों में और जैन न्याय ग्रन्थों में इसी कारण खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। स्वमत या स्वपक्ष का मण्डन और परपक्ष या परमत का खण्डन दर्शन के ग्रन्थों का मुख्य विषय रहा है।

प्रमाण का स्वरूप :- प्रमाण शब्द का सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– **'प्रमीयते येन स प्रमाणंम्'** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थो का ज्ञान हो उस द्वार का नाम प्रमाण हैं। दूसरे, शब्दों में जो प्रमाण का साधकतम करण हो वह प्रमाण है। तर्कभाषा में कहा गया है– **'प्रमाकरणं प्रमाणम्', कि पुनः करणम्? साधकतमं करणम्। अतिशयतं साधकं साधकतमं प्रकृष्टकारणमित्यर्थः।'**[7]

इस सामान्य निर्वचन में कोई विवाद न होने पर भी उस द्वार में विवाद हैं। नैयायिक आदि प्रमा में साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं जबकि जैन और बौद्ध ज्ञान को ही प्रमा में साधकतम कहते हैं। जैन दर्शन की दृष्टि है कि जानना या प्रमा रूप क्रिया चूकिं चेतन है अतः उसमें साधकतम उसी का गुण-ज्ञान ही हो सकता हैं अचेतन सन्निकर्ष आदि नहीं, क्योंकि सन्निकर्ष आदि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और सन्निकर्ष आदि के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः जानने रूप क्रिया का साक्षात अव्यवहित करण ज्ञान ही है सन्निकर्ष आदि नहीं। इस प्रकार जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है।

सवार्थ-सिद्धिः में कहा गया है **'प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमिति मात्रं वा प्रमाणम्।'**[8] अर्थात् जो अच्छी तरह ज्ञान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह

ज्ञान किया जाता है या प्रमिति मात्र प्रमाण है। तिलोय पण्णत्ति में स्पष्ट रूप में कह दिया गया है– 'णाणं होदि पमाणं'[9] अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। इनमें भी सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है मिथ्याज्ञान नहीं। श्लोक वार्तिक में कहा है–

'मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।।'[10]

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। अन्य आचार्यो का चिन्तन इसी केन्द्रविन्दु के आस-पास घूमता रहा है। आचार्य समन्तभद्र[11] ने स्वपरावभासी ज्ञान को प्रमाण बताया है। न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन[12] ने इसमें बाधारहित विशेषण लगाया। अर्थात् स्वपरावभासी बाधारहित ज्ञान को प्रमाण बतलाया। जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंकदेव ने कहीं तो स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान[13] को प्रमाण' बतलाया है और कहीं 'अनधिगतार्थ अविसंवादि ज्ञान[14] को प्रमाण बतलाया है। आचार्य विद्यानंद[15] ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाकर 'स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है। उन्होंने 'अनधिगत' पद को छोड दिया है। आचार्य माणिक्यदेव ने स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण बताकर एक प्रकार से आचार्य समन्तभद्र और अकलंक देव का ही समर्थन किया है।

प्रमाण के स्वरूप का विचार करते समय दार्शनिक परम्परा में यह भी विचार किया जाता है कि प्रमाण में जो प्रामाण्य है वह कैसे उत्पन्न होता है? और यह कैसे पता चलता है कि अमुक ज्ञान प्रमाण है और अमुक ज्ञान अप्रमाण है? अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः होती है या परतः। जैनदर्शन के अनुसार प्रामाण्य स्वतः व परतः दोनों प्रकार से होता है। श्लोक वार्तिक में कहा गया है–

तत्राश्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वतः एव नः। अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः।[17] अर्थात् अभ्यास दशा में ज्ञानस्वरूप का निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपन का भी निर्णय कर लिया जाता है, परन्तु अनभ्यासदशा में तो दूसरे कारणों से (परतः) ही प्रमाणपना जाना जाता है।

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है अतः स्वभाविक ही उसकी दृष्टि में वस्तुतः आत्मा ही प्रामाण्य है, ज्ञान नहीं। इस विषय में धवला में कहा गया है–

'ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते। न, जानाति परिछिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात्। न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिरहितस्य उत्पाद-विनाशलक्षणस्य प्रामाण्यम्, तत्र त्रिलक्षणाभावतः। अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थ क्रियाभावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानुसंधान प्रत्ययादीनामभाव-प्रसंगाच्च।'[18]

अर्थात्-ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते? उत्तर देते हुए कहा है-नहीं, क्योंकि **'जानातीति ज्ञानम्'** इस निरुक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थो को जानता है वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है। उसी को प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्यय स्वरूप किन्तु स्थिति से रहित ज्ञान पर्याय की प्रमाणता स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षणत्रय का अभाव होने के कारण अवस्तु स्वरूप उसमें परिच्छित्तिरूप अर्थक्रिया का अभाव है तथा स्थिति रहित ज्ञान पर्याय को प्रमाणता स्वीकार करने पर स्मृति प्रत्यभिज्ञान व अनुसंधान प्रत्यनों के अभाव का प्रसंग आता है।

प्रमाण के भेद :- प्रमाणों की संख्या के विषय में भी भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं हे। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण मानता है। साख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है। न्याय दर्शन प्रत्यक्ष अनुमान आगम व उपमान इन चार प्रमाणों को मानता है। प्रभाकर मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति इन पॉच को मानते हैं। जैमिनी (मीमासा दर्शन) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को मानता है।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ही प्रमाणों को मानता है। पं. कैलाशचंद जी शास्त्री का यह कथन ठीक ही है– 'प्रमाण की चर्चा दार्शनिक युग की देन है। इसी से कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा होने पर भी प्रमाण और प्रमेय शब्द नहीं मिलते। अतः कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो ही भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। किन्तु कुन्दकुन्द की ही परम्परा में प्रवचनसार के पश्चात् रचे गये तत्त्वार्थसूत्र नामक

सूत्रग्रन्थ में, जो सम्भवतया इतर दर्शनों के सूत्र ग्रंथों से प्रभावित होकर उस कमी की पूर्ति के उद्देश्य से रचा गया था, ज्ञान को ही प्रमाण बतलाकर उसके दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किये हैं। यहीं से जैन दर्शन में प्रमाण की चर्चा का सूत्रपात हुआ है।'

अब जब प्रमाण को ज्ञानरूप सिद्ध किया जा चुका है तो ज्ञान के भेद ही प्रमाण के भेद प्रभेद मानने में कोई आपत्ति नहीं, जैन दर्शन में ज्ञान के पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। यही मौलिक जैन परम्परा है, अतः अन्य किसी दर्शन में ये भेद नहीं पाये जाते दूसरे जैन कर्म सिद्धान्त में ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञानावरणी कर्म के पाँच भेद इन्हीं भेदों को आधार मानकर किये गये हैं। ये हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। तत्त्वार्थ सूत्र में इन पाँच भेदों का कथन करके पहले इन्हें प्रमाण बताया है फिर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष में इन पांचों का विभाजन करते हुए मति और श्रुत को परोक्ष प्रमाण तथा शेष तीन ज्ञानों को प्रत्पक्ष प्रमाण बताया है। यथा—

'मति श्रुतावधि मनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्।'
'तत्प्रमाणे।'
'आद्ये परोक्षम्।'
'प्रत्यक्षमन्यत्।'[20]

अर्थात् मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान ही प्रमाण है। ये सभी दो प्रमाण स्वरूप हैं। पहले के दो अर्थात् मति और श्रुत परोक्ष हैं तथा शेष अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीन प्रत्यक्ष हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ही मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता नामक ज्ञानों को अनर्थान्तर कहा है—

'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।[21]

इस प्रकार आचार्य उमास्वामी ने अपने समय में प्रचलित स्मृतिः प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैन प्रमाण का सिक्का जमा दिया। अब तक के भेदों को एक रेखाचित्र में निम्न प्रकार

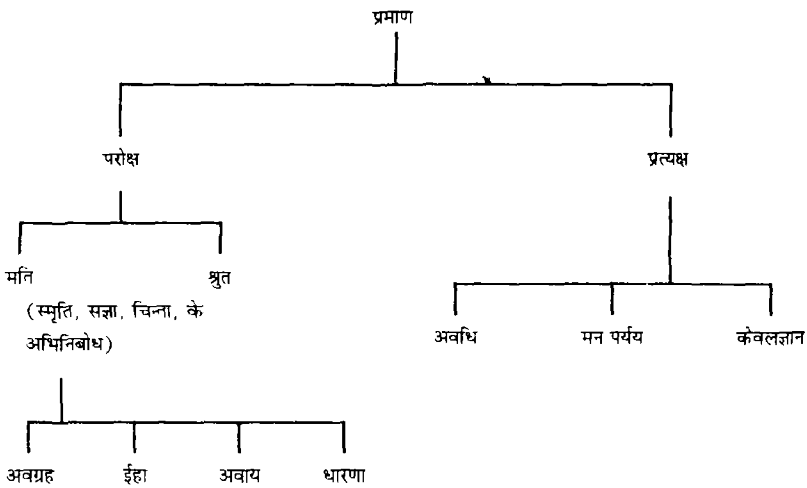

दिखाया जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस प्रकार स्मृति आदि को मतिज्ञान मे अन्तर्भूत करके जैन न्याय का सिक्का तो जमा दिया किन्तु अन्य दार्शनिकों द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने के स्थान पर जैन दर्शन द्वारा परोक्ष मानने की गुत्थी को वे नहीं सुलझा सके। वास्तविक धरातल पर जैन दार्शनिकों की यह मान्यता टिक नहीं पाती थी। सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानते हैं। दूसरी गुत्थी परोक्ष के भेदों को लेकर भी थी। प्रतिवादियों की ओर से जैन दार्शनिकों के सामने हमेशा यह प्रश्न होता था कि यदि जैन अनुमान आदि को परोक्ष मानते है तो उन्हें स्पष्ट करना चाहिए कि परोक्ष प्रमाण के भेदों का सुनिश्चित लक्षण क्या है?

जैन न्याय प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव ने शास्त्रानुकूल समाधान निकालकर इन गुत्थियों को हमेशा के लिए सुलझा दिया। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आधार मानकर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये किन्तु प्रत्पक्ष के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष ये दो भेद कर दिये। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की

परिधि में सम्मिलित कर लिया। इससे प्राचीन जैन परम्परा को कोई क्षति नहीं हुई तथा विपक्षियों के मुंह बन्द हो गये। प्राचीन जैन परम्परा इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष नाम दे देने से जैन परम्परा को कोई क्षति नहीं हुई। वस्तुतः नाम के कारण ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम दे देने से वह विवाद समाप्त हो गया।

स्मृति आदि प्रमाणों को अकलंक देव ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में भी अन्तर्भूत किया और परोक्ष श्रुतज्ञान में भी जब तक इनमें शब्द का संसर्ग न हो तब तक तो इन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जायगा। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद किये गये है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मतिज्ञान और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति आदि आते हैं क्योंकि उनमें मन का व्यापार ही प्रधान होता है। परन्तु यदि ये स्मृति आदि शब्द का ससर्ग लिए हुए हों तो उनका अन्तर्भाव परोक्ष श्रुतज्ञान में किया गया है। अकलंक ने जो स्मृति आदि प्रमाणो को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया उसके मूल में उनकी केवल एक ही दृष्टि थी वह थी सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना अतः जब मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया तो उसके सहयोगी स्मृति आदि को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लेना ही चाहिए।

अकलंक देव के इस मत को प्रायः सभी ने स्वीकार किया किन्तु अकलंक देव के ही ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकर अनन्तवीर्य आरैर विद्यानन्द ने स्मृति आदि को अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना है। विद्यानन्द ने प्रमाण परीक्षा में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद तो किये किन्तु अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदि को परोक्ष ही माना। उत्तरकालीन जैन तार्किकों ने भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान को तो एक मत से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। अकलंक देव ने उमास्वामी के मत की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया था वह सफल तो नहीं हो सका किन्तु उनकी

तार्किक पद्धति का लोहा, सभी ने माना। अकलंक देव और प्रायः अन्य सभी द्वारा मान्य प्रमाण स्वरूप का वर्गीकरण निम्न रूप में स्पष्ट कर सकते हैं।

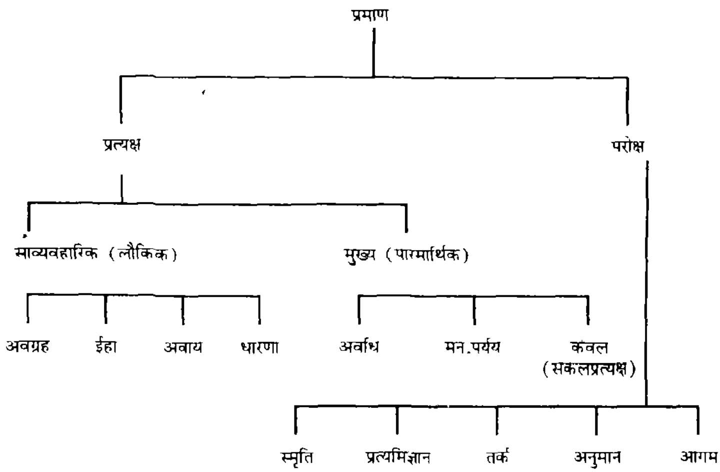

न्यायविनिश्चय टीका मे प्रत्यक्ष के तीन भेद किये गये हैं।– 1. देवों द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान, द्रव्य व पर्याय अथवा सामान्य व विशेष को जानने वाला ज्ञान तथा आत्मा को प्रत्यक्ष देखने वाला स्वसंवेदन ज्ञान।[23] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार प्रत्यक्ष (पारमार्थिक) देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। धवला में इन्हें सकल प्रत्यक्ष व विकल प्रत्यक्ष कहा गया है। अवधि और मनःपर्यय देश या विकल प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सर्व या सकल प्रत्यक्ष हैं।[24]

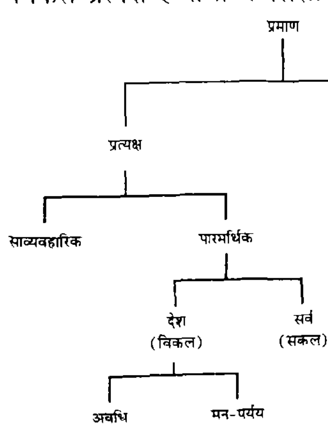

यथा–

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाण की विस्तृत चर्चा की गई है मोक्षमार्ग में यह उपादेय है।

सन्दर्भ

1 छहढाला 1/1
2 तत्त्वार्थसूत्र 1/1
3 वही 1/2
4 वही 1/3-5
6 वही 1/6
7 तर्कभाषा पृष्ठ 12-17 (साहित्य भण्डार सस्करण)
8 सर्वार्थसिद्धि 1/10/98/2
9 तिलोय पण्णत्ति 1/83
10 श्लोकवार्तिक 3/1/10/38/65
11 स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्, वृ स्व 63
12 प्रमाण स्वपराभासिज्ञान बाधविवर्जितम् –न्याय0-1
13 'व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थग्राहक मतम्' –लघीयस्त्रय 60
14 'प्रमाणभविसवादिज्ञानमनधिगतार्थ लक्षणत्वात्' – अष्टसहस्री पृ 174
15 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्' परीक्षामुख - 1-1
16 सम्यग्ज्ञान प्रमाणम् स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञानम् –प्र प्र 53
17 श्लोक वार्तिक 3/1/10/126-1272119 (जैन सि को 3/पृ 144)
18 धवला 9/4, 1, 45/142/2 (जै सि को. 3/पृ 144)
19 जैन न्याय (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रष्ठ 110
20 तत्त्वार्थसूत्र 1/9-12
21 वही 1/13
22 प्रमाण परीक्षा
23. न्याय वि. टी 1/3/115/25 (जै सि कोष 3/123)
24 धवला 9/4.1 45/142 (वहीं पृ 3/123)

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,
कुन्दकुन्द जैन (पी. जी.) कालेज
खतौली-251201 (उ. प्र.)

ध्यान-ध्याता-ध्येय

-(डॉ.) श्रीमती राका जैन

संसार में प्राणी नाना प्रकार की आधि (मन की बीमारी) व्याधि (तन की बीमारी) और उपाधि (कषायादि भावना की बीमारी) से त्रस्त हैं, वे दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं किन्तु मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। इसका एकमात्र कारण है सम्यक् श्रद्धा का अभाव। संसार चक्र से मुक्ति पाने के लिए सही पुरुषार्थ है मोक्ष। मोक्ष पाने तक ध्यान-ध्याता-ध्येय ही एक मात्र सहायक है। मोक्ष का साधन ध्यान है साधक ध्याता है और ध्येय साध्य 'आराध्यदेव' है। ध्यान-ध्याता-ध्येय की अभिन्न दशा अथवा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का एकीकरण, साध्य-साधन-साधक का समष्टि रूप ही मोक्षदशा है— कविवर दौतलराम जी ने स्पष्ट लिखा है—

जहां ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेदन जहां,
चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहां।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चलदशा
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत-ये तीनधा एकै लशा।

ध्यान

ध्यान आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत परिगणित है। चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है। आचार्य उमास्वामि ने उत्तम संहनन वाले को ध्याता की संज्ञा दी है और ध्याता के द्वारा अन्तमुहूर्त तक एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है यथा—

'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्।' 9/27

ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। अतः चित्त की चंचलता को रोकने के लिए आचार्य उमास्वामी ने एकाग्र शब्द दिया है। चिन्तानिरोध ध्यान का

विशेषण है, चिन्ता ज्ञान की पर्याय है। उस ज्ञान की व्यग्रता दूर होना ही ध्यान है। जैनदर्शन में एकाग्र ध्यान की प्रधानता है 'अग्र' से अभिप्राय आत्मा है। ध्यान में आत्मा को ही प्रधान लक्ष्य माना गया है। ध्यान स्ववृत्ति है। ध्यान में बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है। ध्यान के लिए 'एकाग्रचिन्तानिरोध' ही यथार्थ है। किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है और वह वास्तव में क्रमरूप ही है। जो मोह और रागद्वेष से दूर है तथा मन, वचन, काय रूप योगो के प्रति उपेक्षित है उसको शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रकट होती है। तत्वानुशासन के अनुसार आत्मा, अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिए, अपने-अपने आत्महेतु से ध्याता है इसलिए कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—ऐसे षट्कारक रूप परिणत आत्मा ही ध्यान स्वरूप है।

ध्यान के अंग

ध्याता, ध्यान, ध्येय व ध्यान—फल रूप चार अंग वाला ध्यान अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है

ध्यान के भेद—

ध्यान का यथार्थ स्वरूप जानना हो तो उसके भेद-प्रभेद को जानना अत्यावश्क है। आगम कथनानुसार विचारधारा अनेक प्रकार की हैं क्योंकि आत्मा (जीव) का स्वभाव परिणमनशील है। शुभाशुभ असंख्य विचारधाराओं को समझना कठिन होने से ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया है। उन्हें ध्यान की संज्ञा दी गई है।

आगम में मुख्यतः ध्यान के चार भेद हैं :—
1. आर्त्त ध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान 4. शुक्लध्यान।

आगमकथित आर्त्तध्यान के चार भेद—

(1) अमनोज्ञ-वियोगचिन्ता— अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता

करना अमनोज्ञ वियोगचिन्ता आर्त्तध्यान है।

(2) **मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता**— पांचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषयों का एवं माता, पिता, पुत्र पुत्री, पत्नी, भाई, बहन, मित्र, स्वजन, परिजन आदि सबके मिलने पर वियोग न होने का अध्यवसाय (विचार) करना तथा भविष्य में भी इनका वियोग न हो ऐसा निरन्तर सोचना मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है।

(3) **आतंक (रोग) वियोगचिन्ता**— वात, पित्त और कफ के प्रकोप से उत्पन्न व्याकुलता को दूर करने के लिए सतत् चिन्तित रहना 'आतंक—वियोगचिन्ता' नामक तीसरा आर्त्तध्यान है।

(4) **भोगेच्छा अथवा निदान**— पांचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियां कामी (कान-आंख) हैं जबकि शेष तीन इन्द्रियां (रसन, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन पांचों इन्द्रियों के पांच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श। इन इन्द्रियों के द्वारा काम-भोगों को भोगने की इच्छा करना ही 'भोगेच्छा' नामक चौथा आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान के भेद

रौद्रध्यान के भेद—आगम कथित रौद्रध्यान के चार भेद इस प्रकार है—

(1) **हिंसानुबंधि**—द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा का चिन्तन करना। वर्तमान काल में भी हिंसा के विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं वे सब हिंसानुबंधि रौद्रध्यान ही हैं। इसे 'हिंसानन्दि' भी कहते हैं।

(2) **मृषानुबंधि**— झूठ बोलना आदि इसके अनेक प्रकार है। इसे 'मृषानंद' या 'मृषानन्दि' भी कहते हैं।

(3) **स्तेयानुबंधि**—चोरी करना, डाका डालना, चोरी की वस्तु आदि लेना स्तेयानुबंधि रौद्र-ध्यान है। इसे 'चौर्यानन्द' या 'चौर्यानन्दि' भी कहते हैं।

(4) **संरक्षणानुबन्धी**—वस्तु, पदार्थ, आभूषण आदि का संरक्षण करने की तीव्र भावना रखने का चिन्तन करना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इसे

'संरक्षणानन्द' अथवा 'विषयानन्दि' या 'विषय-संरक्षणानुबन्धी' भी कहते हैं।

धर्मध्यान के भेद

(1) अज्ञाविचय धर्मध्यान—(यह) आज्ञा+विचय इन दो 'शब्दों' के सयोग से बना है। 'आज्ञा' शब्द से 'आगम' 'सिद्धान्त' और 'जिनवचन' को लिया जाता है। विचय का अर्थ चिन्तन या अभ्यास है।

(2) अपायविचय धर्मध्यान—रागादि क्रिया, कषायादिभाव, मिथ्यात्वादि हेतु आस्रव के पांच कार्य, 4 प्रकार की विकथा, 3 प्रकार का गौरव (ऐश्वर्य, सुख, रस-साता), 3 शल्य (माया शल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, निदानशल्य) 22 परीषह (क्षुधा-तृषा, शीत-ऊष्ण, दंश-मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल (पसीना), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन) इन सभी उपायों का उपाय सोचना विचारणा ही 'अपायविचय' धर्मध्यान है।

(3) विपाकविचय धर्मध्यान—कर्म चार रूप में बध को प्राप्त होते हैं—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबध और प्रदेशबध। इनके विपाकोदय का चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है।

(4) संस्थानविचय धर्मध्यान—'संस्थान' का अर्थ 'संस्थिति', 'अवस्थिति', 'पदार्थो का स्वरूप' है। 'विचय' का अर्थ-चिन्तन अथवा अभ्यास है। इसमें लोक का स्वरूप, आकार, भेद, षट् द्रव्य-उनका स्वरूप, लक्षण, भेद, आधार, स्वभाव, प्रमाण, द्वीप, समुद्र, नदियां आदि लोक में स्थित सभी पदार्थो का, उत्पाद-व्यय, ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन किया जाता है।7

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा

(1) एकत्व-अनुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना। जिससे अहंकार का नाश होता है।

(2) अनित्य-अनुप्रेक्षा—पदार्थो की अनित्यता का चिन्तन करना। इस भावना के सतत चिन्तन से ममत्व का नाश हो जाता है।

(3) **अशरण-अनुप्रेक्षा**—अशरण दशा का चिन्तन करना। संसार में जो वस्तु नित्य, अनित्य, क्षणिक और नाशवान हैं वे सभी अशरण-रूप हैं। जन्म जरा और मरण, आधि-व्याधि-उपाधि से पीड़ित जीवों का संसार में कोई शरण नहीं है। शरण रूप यदि कोई है तो एक मात्र जिनेन्द्र का वचन ही।

(4) **संसार-अनुप्रेक्षा**—चतुर्गति में परिभ्रमण कराने वाले जन्म-मरण रूप चक्र को संसार कहते हैं। जीव इस संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच संसार चक्र में मिथ्यातवादि के तीव्रोदय से दुःखित होकर भ्रमण करता है। अतः संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

शुक्लध्यान के भेद

चेतना की स्वाभाविक (उपाधि-रहित) परिणति को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(1) **पृथक्त्व-वितर्क-सविचार (सविचारी)**—इनमें तीन शब्द आये हुए हैं जिनका अर्थ है—'पृथक्त्व'-भेद, 'वितर्क'-विशेष तर्कणा (द्वादशागश्रुत), और 'विचार'-'वि'-विशेष रूप से, 'चार' चलना यानी अर्थ—व्यंजना (शब्द) और योग (मन-वचन-काय) में संक्रान्ति (बदलना) करना ही 'विचार' है।

(2) **एकत्व-वितर्क-अविचार (अविचारी)**—इसमें चित्त की स्थिति वायुरहित दीपक की लौ की भांति होती है। जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, तीन योग में से कोई भी एक ही योग ध्येय रूप में होता है। एक ही ध्येय होने के कारण अर्थ, व्यंजना और योग में एकात्मकता रहती है। द्रव्य-गुण-पर्याय में मेरूवत निश्चल अवस्थित चित्त वाले चौदह, दस और नौ पूर्वधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करते हैं। वे असंख्यात-असंख्यात गुणश्रेणिक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुए ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मो को केवलज्ञान के प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही युगपद् नाश करते हैं। तब जीव शुद्ध निर्मल क्षायिक

सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। शुक्लध्यान की इस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहा जाता है।

(3) **सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति प्रतिपाती**—द्वितीय शुक्लाध्यानावस्था में साधक आत्मा को केवलज्ञान हो जाने से वह समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्यायों को युगपद् जानने लग जाता है। घातिकर्म को क्षय कर देता है और अघातिकर्म शेष रहते हैं। जिनकी आयु-कर्म कम हो और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो तो आयुसम करने के लिए उनके 'केवली-समुदघात' होता है।

(4) **समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती**—तीसरे ध्यान के बाद चतुर्थ ध्यान प्रारम्भ होता है। इसमें योगों (मन-वचन-काय का व्यापार) का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है। सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाती है।

ध्यान को जानने के उपाय

ध्यान को समझने के लिए निम्न बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए।

(1) ध्यान की भावना (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वैराग्य एवं मैत्र्यादि)।
(2) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान।
(3) ध्यान के लिए उचित काल।
(4) ध्यान के लिए उचित आसन।
(5) ध्यान के लिए आलंबन।
(6) ध्यान का क्रम (मनोनिरोध या योगनिरोध)।
(7) ध्याता का विषय (ध्येय)
(8) ध्याता कौन?
(9) अनुप्रेक्षा।
(10) शुद्धलेश्या।
(11) ध्यान का फल (संवर, निर्जरा)

बौद्धदृष्टि से ध्यान

शील, समाधि और प्रज्ञा इस त्रिविध साधना पद्धति में सम्पूर्ण बौद्ध-साधना का दिग्दर्शन है। इनमें 'समाधि' के अन्तर्गत ही ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। 'ध्यान' शब्द के साथ ही साथ समाधि, विमुक्ति, शमथ, भावना, विशुद्धि, विश्चयना, अधिचित्त, योग कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्भण, लक्खण आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। यहां पर 'ध्यान' समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द है।

ध्यान का शाब्दिक अर्थ है—चिन्तन करना। यहां 'ध्यान' से तात्पर्य है अकुशल कर्मों का दहन करना। अकुशल कर्मों के दहन के लिए शील, समाधि, प्रजा एवं चार आर्य सत्य (1. दुःख, 2. दुःख समुदय, 3. दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा, 4. आर्य सत्य के अन्तर्गत अष्टान्हिका साधना मार्ग) आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि अकुशल कर्मो का मूल लोभ और मोह है। इन्हीं का दहन साधना और ध्यान से किया जाता है। किन्तु यहां अकुशल कर्मो से पांच नीवरणों को लिया गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जिनका मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाता है तब उस पर नियंत्रण करने के लिए ध्यान की प्रक्रिया की जाती है। ध्यान प्रक्रिया में शरीर और मन का अग्रगण्य स्थान होता है। इसीलिये आधुनिक मनोविज्ञान भी शरीर और मन के अनुसंधान में लगा हुआ है।

मानसिक प्रक्रिया में "ध्यान" की स्थिति तक पहुंचने के लिए तीन मानसिक स्तरों या प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। वे मानसिक स्तर इस प्रकार हैं—

(1) चेतन मन, (2) चेतनोन्मुख मन (3) अचेतन मन।

इन 'मन' के तीन स्तरों को फ्रायड ने नाट्यशाला के समान बताया है। नाट्यशाला की रंगभूमि समान 'चेतन मन', नाट्यशाला की सजावट समान

'अचेतन मन' और रंगशाला में प्रवेश करने की भांति 'चेतनोन्मुख मन' है। मन को बर्फ की उपमा दी है।

मनोवैज्ञानिकों ने मन की वृत्ति तीन प्रकार की बताई है, जैसे कि–(1) ज्ञानात्मक, (2) वेदनात्मक और (3) क्रियात्मक। ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है एवं चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम है। ध्यान मन की वह क्रिया है–जिसका परिणाम ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता है। जागृत अवस्था में किसी न किसी वस्तु पर ध्यान किया जाता है।

ध्यान के सोपान–आगम एवं ग्रन्थों के कथनानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं–(1) छद्मस्थ का ध्यान और (2) जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काया की स्थिरता है।

ध्याता

धर्म व शुक्ल ध्यानों को ध्याने वाले योगी को ध्याता कहते हैं। शुक्लध्यान तो पूर्वविद् को ही होता है परन्तु धर्मध्यान पूर्वविद को भी होता है और अल्पश्रुत को भी। महापुराण के अनुसार यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदहपूर्व का या दशपूर्व का या नौ पूर्व का जानने वाला हो तो ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। अल्पश्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान और श्रेणी से पहले धर्मध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है। द्रव्य संग्रह के अनुसार पांच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपान करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। चारित्रसार के अनुसार प्रशस्त ध्यान का ध्याता मन, वचन, काय को वश में रखने वाला होता है।

"मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तोवशी स्थिरः।
जिताः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।।

जो मुमुक्षु हो, उत्तम संहनन वाला हो, संसार से विरक्त हो, आर्त-रौद्र ध्यान से दूर, अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित,

शान्त चित्त, चित्त संवरयुक्त हो और उपसर्ग आने पर न डिगे ऐसे ध्याता की ही शास्त्रों में प्रशंसा की गई है। इसके विपरीत जो मायाचारी हो, मुनि होकर भी जो परिग्रह धारी हो। ख्यातिलाभ पूजा के व्यापार में आसक्त हो इन्द्रियों का दास हो, विरागता को प्राप्त न हुआ—ऐसे ध्याता को ध्यान की प्राप्ति नहीं होती।

ध्येय

जो अशुभ तथा शुभ पदार्थो का कारण हो उसे ध्यये कहते हैं। धवला के अनुसार जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट सात तत्व एव नौ पदार्थ ध्येय है। हमारे ध्यान करने योग्य वीतराग देव है, केवलज्ञान के द्वारा जिसने त्रिकाल-गोचर अनन्त पर्यायों से उपचित छह द्रव्यों को जान लिया है, जो अजर है, अमर है, अछेद्य है, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है अतएव दर्पण में संक्रान्त हुई मनुष्य की छाया के समान होकर भी समस्त मनुष्यों के प्रभाव से परे है, अव्यक्त है अक्षय है जिन जीवों ने अपने स्वरूप में चित्त लगाया है उनके समस्त पापों का नाश करने वाला ऐसा जिनदेव ध्यान करने योग्य है। अर्हन्त भगवान ध्येय हैं। जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएं रत्नत्रय रूप हैं।

ध्येय के भेद—शब्द, अर्थ और ज्ञान-इस तरह तीन प्रकार का ध्येय कहा जाता है। मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थान का आगम के अनुसार चित्त की एकाग्रता के साथ चिन्तवन करें। अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार का ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूप से ध्यान के योग्य माना गया है अथवा द्रव्य और भाव के भेद वे द्विविध है।

इस प्रकार पदार्थो का चिन्तक ही जीवों के प्रशस्त या अप्रशस्त भावों का कारण है इसलिए ध्यान के प्रकरण में यह विवेक आवश्यक है कि कौन व कैसे पदार्थ ध्यान किए जाने योग्य हैं और कौन नहीं।

उपसंहार

ध्यान को व्यवहारिक जीवन में भी उपयोगी बनाया जा सकता है। यह मात्र सिद्धान्त नहीं है तथा हमारी पूजा प्रक्रिया में इसीलिए सम्मिलित किया जाता है कि यह हमारे जीवन में उपयोगी है।

—आचार्य तुलसी द्वारा प्रवर्तित अनुप्रेक्षा ध्यान के द्वारा बहुत लोग स्वस्थ्य होते देखे गए हैं। इसी प्रकार आचार्य गोसन द्वारा बौद्ध विपश्यना पद्धति को व्यवहार में चरितार्थ करके सिद्ध किया जाता है।

मिथ्यादृष्टि से हटकर सम्यग्दृष्टि में आना ही ध्यान की प्रक्रिया है। ध्यान से आध्यात्मिक परम सुख की प्राप्ति होती है साथ ही साथ शारीरिक और मानसिक विकास भी उत्तरोत्तर होता रहता है। काया की स्थिरता, मन की निर्मलता, वचन की मधुरता, हृदय की पवित्रता ध्यान से ही प्राप्त होती है। दशा को बदलने के लिए दिशा को बदलना होगा। दिशा का परिवर्तन आचार-विचार-उच्चार की निर्मलता से होता है। चित्तशुद्धि से कर्म-मलादि का शोधन होता है। जैसे—मैले-कुचैले वस्त्र को पानी से, लोहे को अग्नि से, कीचड़ को सूर्य किरणों से शोधन किया जाता है वैसे ही ध्यान रूपी पानी, अग्नि, सूर्य से कर्ममल का परिशीलन (छानन) किया जाता है। अतः ध्यानाग्नि से ही कर्म ईधन को जलाया जा सकता है। ध्यान जीवन परिवर्तन की परम औषधि है। जन्म मरण का रोग भयंकर है। द्रव्यरोग की दवा डॉक्टर के पास है, भावरोग की नहीं। वह तो ध्यानयोग के ही पास है। सनत्कुमार चक्रवर्ती, आदि भव्यात्माओं ने ध्यान बल से भावरोग को नाश कर किया।

समत्व योग की साधना ही ध्यान की साधना है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। प्रशस्त ध्यान से केवल साम्य ही स्थिर नहीं होता, अपितु कर्ममल से मलिन जीवन की शुद्धि होती है। अतः ध्यान किया नहीं जाता वह फलित होता है। हमारे शारीरिक मानसिक सन्तुलन दशा का परिणाम ही ध्यानावस्था है। वर्तमान कालीन परिस्थिति में शान्ति पाने के लिए एकमात्र परम औषधि है 'ध्यान'। ध्यान की प्रक्रिया से आत्मिक शान्ति मिलती है।

जैन अनुशासन के मूल तत्त्व

-कु. रेखा जैन

'अनुशासन' : निष्पत्ति और निहितार्थ— अनुशासन शब्द की निष्पत्ति - अनु + शास् + ल्युट् अर्थात् अनु उपसर्ग-पूर्वक शास् धातु से ल्युट् प्रत्यय जोड़ने पर और ल्युट् में से शेष रहे यु के स्थान पर कृदन्त का अन् प्रत्यय करने पर होती है। अनुशासन का अर्थ-आदेश, प्रोत्साहन, शिक्षण नियमों, विधियों का बनाना, आदेश या शिक्षा के शब्द, संज्ञाओं के लिङ्ग सम्बन्धी नियमों का निर्धारण तथा व्याख्या है। शब्दकोशकारों ने अनुशासन शब्द का बहुत व्यापक अर्थो में प्रयोग किया है। इसका प्रयोग उन्होंने आदेश, आज्ञा, उपदेश और शिक्षा के अर्थ में तो किया ही है 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration) तथा 'डिसिप्लिन' (Diciplıne) के अर्थ मे भी इसका प्रयोग किया है।

राज्य समूह, समाज वर्ग या संस्था के सभी सदस्यों को अच्छी तरह से कार्य करने की विधि अथवा आचरण करने के लिये अनिवार्यता निर्देशित करने की प्रक्रिया, अनुशासन अर्थात् 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration) और नियम पालन (Discipline) ही वस्तुतः 'अनुशासन' है।

''जैन'' : व्युत्पत्यर्थ और प्रयोग— 'जैन' शब्द 'जिन' से निष्पन्न होता है। 'जिन' शब्द संस्कृत की 'जि' धातु के गर्भ से जन्मा है। यह जीतने के अर्थ में प्रयुक्त है। 'जयति कर्मशत्रून् इति जिनः' अर्थात् जो इन्द्रियो को तथा कर्म रूपी शत्रुओं को जीतता है वह 'जिन' है। 'जिन' कोई ईश्वरीय अवतार न होकर काम, क्रोध आदि विकारों/विभावों को जीतने वाले सामान्य मनुष्य होते हैं 'जिन' के अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं।

जैन का अर्थ हुआ 'जिन' का अनुशरण करने वाला। जिन के चरण चिन्हों पर चलने वाला।

अहिंसा : साम्यवाद की अभिव्यञ्जक महाशक्ति— जैन अनुशासन की मूलभित्ति अहिंसा है। यह साम्यवाद की अभिव्यञ्जक महाशक्ति है। इसका जितना सूक्ष्म विवेचन जैन परम्परा में मिलता है, उतना अन्य किसी परम्परा में नहीं। प्रत्येक आत्मा चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो तात्त्विक दृष्टि से समान है। चेतना के धरातल पर समस्त प्राणी समूह एक जैसे हैं। उसमें कोई भेद नहीं है। जैन दृष्टि का यह 'साम्यवाद' भारत के लिये गौरव की वस्तु है। इसी साम्यवाद के आधार पर जैन परम्परा यह घोषणा करती है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध की बात न सोचे शरीर से हत्या कर देना तो पाप है ही, किन्तु मन में तद्विषयक भाव होना भी पाप है। मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को संताप नहीं देना, उनका वध नहीं करना, उसे कष्ट नहीं देना यही **सच्ची अहिंसा** है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्द-कुन्द कहते हैं कि—

'उचचालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।। —प्र.सा.मू.गा. 3.17(1)
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहोच्चिय अज्झप्पमाणदो दिट्ठो।।' —प्र.सा.मू.गा 3 17 (2)

अर्थात् यदि कोई मनुष्य सावधानीपूर्वक जीवों को बचाते हुये देखभाल कर चल रहा है, फिर भी यदि कदाचित् कोई जीव उसके पैरों के नीचे आकर मर भी जाए तो उसे तज्जन्य हिंसा संबंधी सूक्ष्म पाप भी नहीं लगता क्योंकि उसके मन में हिंसा के भाव नहीं हैं तथा वह सावधान है।

इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य 'मेरी इस प्रवृत्ति से किसी का घात हो रहा है या नहीं, किसी को कष्ट पहुंच रहा है या नहीं इस बात का विचार किए बिना एकदम लापरवाही और असावधानी से चल रहा है तो उसे हिंसा निमित्तक पाप आवश्य लगेगा भले ही जीव का वध हो या न हो।

'मरदु व जीयदु व जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।।' -प्र.सा.मू.गा. 3.17

अर्थात् यदि कोई असवाधानी पूर्वक अयत्नाचारी बनकर अपनी प्रवृत्ति कर रहा है तो जीव मरे या न मरे, उसे तज्जन्य पाप से कोई बचा नहीं सकता; तथा सावधानी से प्रयत्नपूर्वक चलने वाले मनुष्य द्वारा हिसा हो जाने पर भी वह पाप का भागीदार नहीं होता। वनस्पति जगत् से लेकर मानव तक की अहिंसा की यह कहानी जैन अनुशासन की विशिष्ट देन है। विचारों में एकात्मवाद का आदर्श तो अन्यत्र भी मिल जाता है, किन्तु अनुशासन पर जितना बल जैनदर्शन में दिया गया है उतना अन्यत्र नहीं मिल सकता। अहिंसा का उत्कर्ष जैन अनुशासन की अपनी मौलिक देन है।

अनेकान्तवाद : वैचारिक उदारता का परिचायक— जैन अनुशासन का मूल तत्त्व सार्वजनीन वैचारिक उदारता का ज्ञापक स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अर्थात् एक ही वस्तु परस्पर विरोधी अनेक धर्मो, गुणों का पिंड है। उसे समझने के लिये अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना जरूरी है। अनेकान्त का अर्थ है—अनन्त धर्मात्मक वस्तु को तत् तत् दृष्टि से स्वीकार कर वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि। उसके बिना वस्तु का समग्र बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु को हम जैसी देखते हैं वस्तु वैसी ही नहीं है, अपितु उसे उन जैसी अनन्त दृष्टियों से देखे जाने की संभावना है। हमारा स्वल्प ज्ञान समग्र वस्तु को विषय नहीं बना सकता। जब तक हम वस्तु को समग्र दृष्टि से नहीं देखते तब तक हमे उसका समग्र बोध नहीं हो सकता। वस्तु के समग्र बोध के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना जरूरी है।

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा-शैली का नाम है। प्रायः अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है। किन्तु दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। **अनेकान्त ज्ञानात्मक** है और **स्याद्वाद वचनात्मक;** अनेकान्त प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। हॉ! अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा जा सकता है। जैन ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का वाची शब्द है जो एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रकट करता

है। वस्तुतः 'स्याद्वाद' अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है।

'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। 'स्यात्' यह एक निपात शब्द है। इसका अर्थ 'शायद' या संदेह नहीं। इसका अर्थ है कथञ्चित्, किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। वाद शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जो 'स्यात्' का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि जो विरोधी धर्म का निराकरण न करता हुआ अपेक्षा विशेष से विवक्षित पक्ष/धर्म का प्रतिपादन करता है वह 'स्याद्वाद' है।

भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ मनीषी डॉ. 'रामधारी सिंह दिनकर' का स्पष्ट अभिमत है कि 'अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।'

जैन दर्शन के मनीषी डॉ. भागेन्दु का स्पष्ट अभिमत है कि—जैन धर्म केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं, वरन् वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन-दर्शन का 'स्याद्वाद' या अनेकान्तवाद है। यह विश्व के दर्शनों में अनूठी वस्तु है। इसके महत्त्व को देशी-विदेशी सभी विचारकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

आज विश्व में अशांति का मूल कारण यही है कि एक मत या वाद को मानने वाले लोग अपने से भिन्न मत या वाद को मानने वाले लोगों को ऑख बन्द कर गलत समझते हैं। लोग अपने प्रतिपक्षियों के प्रति असहिष्णु हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भी यह सत्य है कि कोई भी मत पूर्ण सत्य अथवा पूर्ण असत्य नहीं है। वस्तु एक ओर से जैसी दिखाई पड़ती है, दूसरी ओर से वैसी ही दिखाई नहीं पड़ती। अतः बिना विवेक के किसी भी मान्यता या मत को सर्वथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। सत्य को पहचानने के अनेक मार्ग हैं, सत्य के मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति के दुराग्रह और हठधर्मिता समाप्त

हो जाती है। सत्यान्वेषक की दृष्टि उदार होती है। समन्वय, सह-अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के नामान्तर हैं। जन साधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दर्शन ने कायिक अहिंसा का उपदेश किया, किन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसामय प्रवृत्तियों से विरत करने के लिए मानसिक अहिंसा 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है उसे हम एक साथ पूरा नहीं कह सकते। उसके लिए सापेक्ष वर्णन शैली अपनाने की जरूरत है। जैसे कोई व्यक्ति किसी का पिता है तो वह सिर्फ पिता ही नहीं है। अन्य संदर्भो में पुत्र, पौत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भाई आदि अनेक रिश्ते भी उसके साथ सम्भव हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हमें जो कुछ कहना है सापेक्ष ही कहना है। ऐसा कहकर ही हम वस्तु स्थिति का सही कथन कर सकते हैं। पुत्र की अपेक्षा से ही उसे पिता कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्सटीन ने जिस 'थियोरी ऑफ रिलेटीविटी' (Theory of Relativity) का कथन किया है वह यही सापेक्षता का सिद्धान्त है। लेकिन वह सिर्फ भौतिक पदार्थो तक ही सीमित है। जैन दर्शन में इसे और भी व्यापक अर्थों में कहा गया है कि लोक के सारे अस्तित्व सापेक्ष हैं। उन्हें लेकर कहा गया कोई भी निरपेक्ष कथन सत्य नहीं है।

स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मो का निराकरण न करते हुए परस्पर मुख्य गौणता के साथ अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। उसे हम अपने ज्ञान के द्वारा जान तो सकते हैं किन्तु वाणी द्वारा उसका एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है। शब्द की एक सीमा होती है वह एक बार में वस्तु के किसी एक धर्म का ही कथन कर सकता है, क्योंकि **'सकृदुच्चारितः शब्दः एकमेवार्थं गमयति'** इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तु धर्म के साथ प्रकट करता है तो उससे वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता। किन्तु स्यात् पूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करने से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है, क्योंकि 'स्यात्'

पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ भी अन्य धर्मो का निषेध नहीं करता बल्कि उनकी मौन स्वीकृति बनाये रखता है। हॉ, जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण। क्योंकि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद कथन में अनेकान्त सुव्यवस्थित रहता है।

'स्यात्' शब्द के इसी रहस्य को उजागर करते हुये **प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य** ने लिखा है कि—शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य का प्रतिषेध करने में वह निरंकुश हो जाता है। उस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान घटः' वाक्य घट के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह रूपवान ही है यह अवधारणा करके घड़े में रहने वाले रस, गंध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे यहाँ तक तो कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही स्वार्थ को सब कुछ मान शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तु स्थिति का विपर्यास करना है। स्यात् शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अनुस्यूत रहता है, और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है जिससे अहंकार का सृजन होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व के मूर्धन्य मनीषी प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि "भारतीय दर्शन के समवायात्मक पक्ष का अनुशीलन करते समय हमारा ध्यान उस सिद्धान्त की ओर जाता है, जिसे जैन मनीषियों द्वारा 'अनेकान्तवाद' नाम से प्रतिष्ठापित किया गया। इस वाद की उद्भावना में समता और सहिष्णुता की वह भावना निस्सन्देह सहायक रही है जो जैन जीवन-दर्शन की एक मुख्य आधार भूमि है। आचार और विचार के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव, दूसरों के कथनों या मान्याताओं में दोष-दर्शन और विचार-स्वातन्त्र्य का विरोध, ये ऐसी परिस्थितियों को जन्म

देते हैं जो वैषम्य तथा कटुता बढ़ाती है। 'अनेकान्तवाद' ऐसी परिस्थितियों का सही उपचार है।''

'अनेकान्तवाद' दुराग्रह का प्रतिरोध प्रस्तुत करता है। विभिन्न विचारधाराओं के प्रति वह आदर-भावना को जागृत करता है तथा इस प्रकार सम्यक् विवेक-बुद्धि के उन्नयन में सहायक होता है। वह इस बात पर बल देता है कि देश-काल जन्य तथा अन्य परिस्थितियों के कारण सत्य के विभिन्न रूप संभव हैं और दूसरों के मतों में भी सत्य का अंश विद्यमान रहता है।

यह विचारधारा प्राचीन होते हुए भी किसी काल-परिधि में आबद्ध नहीं कही जा सकती। यह एक ऐसे कल्याणवाद शाश्वत सिद्धान्त के रूप में मान्य होना चाहिए, जो भूतकाल में ही नहीं वर्तमान और भविष्य में भी एक वैज्ञानिक तथ्य के समान उपादेय होता है।

अपरिग्रह : समता-मूलक समाज-व्यवस्था का ज्ञापक— जैन दर्शन में महाव्रत पाँच होते हैं। अपरिग्रह भी इनमें से एक है।

आचार्य उमास्वामी (ई. प्रथम शती) ने **'तत्त्वार्थसूत्र'** में परिग्रह का लक्षण-मूर्च्छा परिग्रह किया है। धन-धान्य, कुटुम्ब परिवार और अपने शरीर के प्रति उत्पन्न आसक्ति परिग्रह है। इस परिग्रह का पूर्णतया त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

आचार्य समन्तभद्र (ई. द्वितीय शती) ने **'रत्नकरण्डश्रावकाचार'** में धन संचय की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए कहा है—

'यदि पाप-निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।।
यदि पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।।

—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार/27

अर्थात् 'यदि जीवन में पाप का निरोध हो गया तो वह निष्पाप-जीवन ही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य किसी सम्पदा का कोई अर्थ नहीं है। और यदि जीवन में पाप का आस्रव हो रहा हो, हमारा आचरण पापमय हो, तो

किसी भी सम्पदा से हमारे जीवन का उत्कर्ष होने वाला नहीं है। पाप के साथ आने वाली सम्पत्ति हमें दुर्गति के गर्त में ही ले जायेगी। ऐसी स्थिति में सम्पदा से क्या प्रयोजन?'

'जैन अनुशासन की आचार संहिता' में परिग्रह की लोलुपता को सभी पापों की जड़ बताते हुए कहा गया है–

'संग णिमित्तं मारइ, भणई अलीकं, करेज्ज चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण-मिच्छं, अपरिणामो कुणदि जीवो।।'

–समणसुत्तं

अर्थात् 'मनुष्य परिग्रह के लिए ही हिंसा करता है, संग्रह के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह लिप्सा आज का सबसे बड़ा पाप है। उसी के माध्यम से शेष चार पाप हमारे जीवन में प्रवेश पा रहे हें। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमें से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रासाद में पाप का रिसाव हो रहा है।'

वस्तुतः परिग्रह की मूल कारण इच्छाओं/तृष्णाओं का कोई ओर-छोर नहीं है। वे अनन्त होती हैं। इसी दृष्टि से अर्धमागधी प्राकृत आगम 'उत्तराध्ययन सूत्र' में भी इच्छाओं को आकाश की तरह अन्तहीन निरूपित किया है–

'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।।' –उत्तराध्ययनसूत्र 6/48

अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है। इस सम्बन्ध में हम स्वयं प्रश्न करें तो उत्तर भी स्वतः स्फूर्त होकर हमारे समक्ष उपस्थिति हो सकेंगे। यथा–

हम दुःखी क्यों हैं?
इसलिए कि हम कुछ चाहते हैं।
इसका अर्थ?
अर्थ यही कि इच्छा स्वयं दुःख है।

जब तक इच्छा है, दुःख है।
जिसमें भी इच्छा है, दुःखी है।
इच्छा का जन्म क्यों होता है?
अपने भीतर अभाव की अनुभूति से।
इस अनुभूति का कारण?
आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान।
स्वरूप?
अनन्तान्दमय।

जब तक आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है व्यक्ति बाहर सुख की खोज में भटकता रहता है इसके लिए वह विषयों की शरण में जाने का प्रयास करता है, जहॉ सुख नहीं, केवल सुख का आभास है, अस्थायी या अचिरस्थायी सुख है। फिर विषयों से मन तृप्त कहॉ होता है? एक इच्छा के बाद दूसरी ओर छोटी के बाद बड़ी उत्पन्न होती ही रहता है। इच्छा की पूर्ति का प्रयास इसलिए विफल रहता है।

आचार्य पूज्यपाद (ई. 5वीं 6वीं शती) ने 'इष्टोपदेश' में लिखा है—

'आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतुं कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्।।'

—आचार्य पूज्यपाद : इष्टोपदेश/15

अर्थात् जिस गति से काल व्यतीत होता है उसी गति से आपकी आयु भी क्षीण होती जाती है। इसके बाद भी आप अपनी प्रतिक्षण खिरती हुई आयु का कोई सार्थक उपयोग नहीं करना चाहते है। यह जानते हुए भी धन की ही आकांक्षा में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि आप अपने जीवन से अधिक, अपनी धन सम्पदा को चाहते हैं। आपकी बुद्धि विलक्षण है।

आचार्य गुणभद्र स्वामी (ई. 8वीं शती का उत्तरार्ध) ने **'आत्मानुशासन'** में लिखा है—

'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं वियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।।'

—आचार्य गुणभद्र : आत्मानुशासन/36

अर्थात् संसार में हर प्राणी के भीतर तृष्णा का इतना बड़ा गड्ढा है कि यदि उसमें विश्व की सारी सम्पदा डाल दी जाये, तब भी वह भरेगा नहीं, खाली ही रहेगा। ऐसी स्थिति में किसे क्या देकर संतुष्ट किया जा सकता है? विषयों की आशा और तृष्णा सदैव उन्हें दुःखी ही करती रहेगी।

आचार्य अमृतचन्द्र (10वीं 11वीं शती) ने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में परिग्रह का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनाऽपि किल शेषसङ्गेभ्यः।।'

—आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्धयुपाय/112

अर्थात् 'यदि कोई पुरुष सर्वथा नग्न अर्थात् सब प्रकार के परिग्रहों से रहित हो, परन्तु उसके अन्तरंग में मूर्च्छा का सद्भाव हो, तो वह परिग्रहवान ही कहलायेगा—अपरिग्रही नहीं। क्योंकि जहाँ-जहाँ मूर्च्छा होती है वहाँ परिग्रह अवश्य ही होता है' ऐसा नियम है और परिग्रह के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

लालसा से भरा हमारा मन जहाँ तक जाता है, वहाँ तक सब कुछ हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुंडली में कस लेती है। आचार्यों ने लालसा की इसी वृत्ति को 'मूर्च्छा' कहा है। जिसके मन में पर-पदार्थों के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा संसार उसका परिग्रह है। जिसके मन से यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, संसार में रहते हुए भी संसार उसका नहीं है—

'मूर्च्छाच्छन्न-धियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः।।'

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है–'हमारे जीवन में दो दुःखद घटनाएँ घटती है। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही वस्तुएँ मिलती नहीं हैं। दूसरी यह कि वे हमें मिल जाती है।'

'There are two tragedies in life One is not to get your heart's desire The other is to get it!

-George Bernard Show

जोड़ने और जोड़ते ही चले जाने की धुन कभी किसी को सुखी नहीं बना पाई। परिग्रह ने जब दी है, प्यास ही दी है, तृप्ति देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परिग्रह की वाञ्छा आकुलताओं को जन्म दे सकती है, परन्तु अनाकुलता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परिग्रह की लालसा व्यक्ति को दौड़ाती बहुत है, परन्तु वह पहुँचाती कहीं नहीं। यही परिग्रह की यथार्थता है

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'आत्मा' से 'परमात्मा' की यात्रा करने वाला यह जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसकी मौलिक और स्वतन्त्र परम्परा है। यह किसी की शाखा नहीं है। अहिंसा जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है। जैन अनुशासन अहिंसा की ही मूलभित्ति पर खडा है। अनेकांत जैन विचार का मूलाधार है। वास्तु स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा करने वाले जैन धर्म में कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर जो समतामूलक समाज व्यवस्था दी गयी है वह जैन धर्म की अनन्य देन है।

शोध छात्रा
संस्कृत विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह (म.प्र.)

समयसार में 'स्फटिकमणि' का दृष्टान्त

-डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

आचार्य कुन्दकुन्द के परमागमों में समयसार को प्रथम स्थान प्राप्त है। आत्मा के स्वभाव और उनके गूढ़ रहस्यों का इतना सरल व इतना मार्मिक प्रतिपादन शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। समयसार में रहस्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने अनेक स्थलों पर दृष्टान्त दिये हैं। इस दृष्टान्तों के प्रयोग इतने अधिक स्पष्ट तरीकों से किये गये हैं कि सिद्धान्त स्वतः स्पष्ट अवगम्य हो जाते हैं। व्यवहारिक जीवन के उदाहरणों को लेकर जिनसे आबाल-गोपाल सभी परिचित होते हैं, किसी गूढ़ रहस्य को समझा देने की कला से ओतप्रोत है समयसार।

यहां हम कर्मोदय जन्य रागादि भावों के प्रति आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व को आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रयोग में लाये गये एक दो उदाहरणों से समझेंगे।

तथ्य—

1. आत्मा में कर्मो का जो बन्धन होता है उसका कारण बतलाया जाता है आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भाव। यह तथ्य अपने स्थान पर सही है क्योंकि आत्मा में यदि रागादि भावों की उत्पत्ति न हो तो उसके कर्मबन्ध का प्रश्न ही नहीं है।
2. उपर्युक्त कथन सामान्य आत्मा के लिए आया। शुद्ध चैतन्य मात्र जो आत्मा है उससे रागादि भिन्न भी कहे हैं।
3. रागादि आत्मा में कर्मबन्ध के कारण भी हैं और शुद्धचिन्मात्र आत्मा से भिन्न भी है।

समस्या – इस परिस्थिति में रागादि के होने में आत्मा निमित्त कारण है अथवा

नहीं? या फिर कोई अन्य कारण है?

समाधान : दार्ष्टान्त – शुद्ध स्वपरभेदविज्ञानी जो आत्मा है वह पूर्वकर्मोदयवशात् रागयुक्त होते हुये भी उसमें रागादि भावों के कर्तापने रूप भाव का अभाव होने से वह नये कर्मों का बन्धन नहीं करता। ऐसा ज्ञानी आत्मा जान चुका है कि वह खुद ही अपने रागादि परिणाम होने का निमित्त नहीं है, परन्तु जो परद्रव्य (कर्मादि, पुद्गल द्रव्य) हैं वे स्वयं रागादि भाव को प्राप्त होने से मेरे रागादिक के निमित्तभूत हैं। यही कारण है कि मैं (आत्मा) परिणामी होने से अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर ही रागादि रूप परिणमित होने लगता हूँ। किन्तु इससे मेरा (आत्मा का) अविनाशी विशुद्ध चैतन्यमात्र स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता है।

समाधान का निष्कर्ष – आत्मा स्वभाव से तो अत्यन्त शुद्ध ही है, जिस तरह का पर का निमित्त मिले वैसा ही परिणमता है।

दृष्टान्त – इस दार्ष्टान्त के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने इसकी सूक्ष्मता को समझते हुये 'स्फटिकमणि' का दृष्टान्त 278-79 वीं गाथा में प्रस्तुत किया है–'स्फटिकमणि आप तो केवल एकाकार शुद्ध ही है परन्तु जब परद्रव्य के निमित्त से लालिमा आदि का संयोग होता है तब वह लालिमा का रुप परिणमित हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी आत्मा का भी स्वभाव है। वह ज्ञानी आत्मा स्वयं शुद्ध है। वह रागादि भाव रूप स्वयं परिणमित नहीं होता है किन्तु अन्य रागादि परदोषों से रागादि रूप किया जाता है।'[1]

इसी दृष्टान्त को ही आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी आत्मख्याति टीका एवं कलश में 'सूर्यकान्तमणि' के माध्यम से समझाया है।

वे मानते हैं कि आत्मा में रागादिक होने का निमित्त परद्रव्य का सम्बन्ध ही है। सूर्यकान्तमणि खुद अग्नि रूप नहीं परिणमता उसमें सूर्य का निमित्त (उसका बिम्ब) अग्नि रूप होने को निमित्त है।[2]

उक्त प्रकार की वस्तु व्यवस्था तथा वस्तु का स्वभाव ज्ञानी को ज्ञात है

इसलिए वह रागादिक को अपने में नहीं करता और इसीलिए वह रागादि का कर्ता नहीं है।[3]

यद्यपि ज्ञानी आत्मा भी राग की दशा में रागी ही है क्योंकि द्रव्य जिस समय जिस भाव रूप परिणमन करता है उस समय वह उस भाव रूप ही हो जाता है।[4] लेकिन इस दशा में भी ज्ञानी आत्मा रागादि का कर्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भेदज्ञान से स्वयं को शुद्ध रूप अनुभव करता हुआ उन रागादिक को अपने में नहीं करता है।

ज्ञानी की स्थिति – हमें ज्ञानी आत्मा और अज्ञानी आत्मा का भेद करना ही पड़ता है क्योंकि कर्तृत्व और अकर्तृत्व के निर्धारण का प्रमुख आधार यही भेद है। 'जो वस्तु स्वभाव को जानकर भेद विज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी आत्मा है वह स्वयं को पहचान चुका है कि वह द्रव्यदृष्टि से शुद्ध ही है इसलिए वह स्वयमेव अपने में राग-द्वेष मोह तथा कषायभाव नहीं करता है इसलिए वह इन भावों का कर्ता नहीं है।[5] वह द्रव्य दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है मात्र पर्याय दृष्टि से पर द्रव्य के निमित्त से रागादि रूप परिणमता है। वह तो उदय में आये हुए फलों का ज्ञाता ही है।

इस प्रकार यहां आचार्य कुन्दकुन्द ने 'स्फटिकमणि' के माध्यम से ज्ञानी आत्मा में पूर्वकर्मोदय वशात् होने वाले रागद्वेषादि भावों के प्रति अकर्तापना समझाया। यह दृष्टान्त बहुत बड़ी आध्यात्मिक समस्या का समाधान बहुत आसानी से समझा देता है। ज्ञानी के रागादि भावों के होते हुये भी वह उनका कर्ता नहीं तथा उनके निमित्त से उसको कोई नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार की गहराई को समझाना आसान नहीं है किन्तु आचार्य ने 'स्फटिकमणि' के दृष्टान्त से इस उलझन जैसे प्रतीत होने वाले सिद्धान्त को भी अत्यन्त सुगमता पूर्वक ऐसे समझाया कि बालक भी इस गहरायी को आसानी से समझ सकता है।

कर्तृत्वपना अज्ञान दशा में होता है। ज्ञान दशा होने पर आत्मा समस्त भावों की अकर्ता है ऐसी पहचान हो जाती है। इस आत्मा का जिस प्रकार

कर्तापने का स्वभाव नहीं है उसी प्रकार भोक्तापने का भी स्वभाव नहीं है। यह आत्मा अज्ञान से कर्ता माना जाता है। जब अज्ञान का अभाव हो जाता है तब कर्ता नहीं है।

(बी) तथ्य – जीव पर द्रव्य का कर्ता नहीं है।

समस्या – यदि जीव पर द्रव्य का कर्ता नहीं है तो कौन है?

समाधान दार्ष्टान्त – जीव और अजीव (पुद्गलादि कर्मादि) के जो परिणाम कहे गये हैं उन परिणामों से उस जीव अजीव को अन्य नहीं जानना क्योंकि परिणाम में वे द्रव्य ही हैं। यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए किसी का किया हुआ कार्य नहीं है और वह आत्मा किसी अन्य को भी उत्पन्न नहीं करता इसलिये वह किसी का कारण भी नहीं है, कर्म को आश्रय करके कर्ता होता है और कर्ता को आश्रय करके कर्म उत्पन्न होता है ऐसा नियम है। अन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि देखी नहीं जाती है।[7]

समाधान का निष्कर्ष – सभी द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने अपने परिणामों के कर्ता हैं। वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का कर्ता है, और उसके परिणाम कर्म है। अतः जीव परद्रव्य में कुछ नहीं करता और न ही परद्रव्य जीव का कुछ करता है। सभी अपने अपने में परिणमन करते हुए पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

दृष्टान्त – उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने 'सुवर्ण के कड़े' का उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार कड़ा इत्यादि पर्यायें सुवर्ण से अलग नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उन गुणों से वह अनन्य (अलग नहीं) है।[8]

द्रव्यमात्र अपनी ही पर्यायों का कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त पर्यायें होती हैं। वे पर्यायें ही उस द्रव्य की कर्म हैं। इस प्रकार द्रव्य मे ही कर्ता-कर्म

दोनों ही घटित हो जाते हैं। इसके लिए सोने का उदाहरण सटीक है। सोना, कुंडल, कंगन इत्यादि परिणामों का कर्ता है और ये परिणाम ही उसके कर्म हैं। अन्य द्रव्यों में उसका कर्तापना बिल्कुल भी नहीं है। फिर जो कि हमारी समस्या थी कि अन्य परद्रव्यों का कर्ता कौन? उसका समाधान यह है कि परद्रव्य भी स्वयं ही अपने परिणामों के कर्ता हैं, न कि कोई आत्मादि अन्य द्रव्य।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर दृष्टान्तों के माध्यम से वस्तु स्वभाव को समझाने का यत्न किया है। ये दृष्टान्त मनोविज्ञान के भी विषय है। ज्ञाता के मनोभावों एवं मानसिक स्तर को भांपते हुये वक्ता जब सटीक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है तब उसका अपना एक अलग ही महत्त्व होता है। कुन्दकुन्दाचार्य के दृष्टान्तों को ही लेकर अनुसंधान कार्य भी किया जा सकता है। अपने इस लघु आलेख में मैने मात्र दो उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। हम भारतीय दर्शन और साहित्य पर यदि दृष्टिपात करें तो अनेक स्थल पर इन उदाहरणों का प्रयोग मिल जायेगा। अनुसंधान में यह भी यद्यपि अपेक्षित था किन्तु हमने स्वयं को समयसार तक ही सीमित रखा है।

सन्दर्भ

1 जहफलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमदू रायभाईहिं।
रगिज्जदि अण्णहि दु सो रत्तादीहि दव्वेहि।।
एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायभाईहि।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागदीहि दो सेहि।।

—समयसार-आचार्य कुन्दकुन्द, सपा प पन्नालाल
गाथा - 278, 279, पृ. 358, प्रका परम श्रु. प्रभा. म., अगास, 1982

2 न जातु रागादिनिमित्त भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त।
तस्मिन्निमित्त पर सङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।

—आत्मख्याति टीका, कलश-175, वही, पृ 359

3 इति वस्तुस्वभाव स्वं ज्ञानी जानाति तेन स.।
रागादीन्नात्मनः कुर्य्यान्नातो भवति कारकः।।

—वही, कलश-176

4 परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्त।

—प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द प्रथमाधिकार गाथा-8
सम्पा. ए एन. उपाध्ये, प्रका-परमश्रुत प्रभा म, अगास, 1984

5 ण य रायदोसमोहं कुव्वादि णाणी कसाय भावं वा।
समयप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाण।।

—समयसार, गाथा-280, पृ 360

6 कर्तृत्व न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्ताय तदभावादकारक ।।

समयसार, कलश-194, पृ 395

7 जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु वेसिदा सुत्ते।
त जीवमजीव वा तेहिमणण्ण वियाणाहि।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्ज ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किचि वि कारणमवि तेण ण स होदि।।
कम्म पडुच्च कत्ता कत्तार तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा।।

—समयसार, गाथा-309, 310, 311

8 दविय ज उप्पज्जइ गुणेहि त तेहि जाणसु अणण्ण।
जह कडयादीहि दु पज्जएहिं कणय अणण्णमिह।।

—समयसार, गाथा-308

व्याख्याता-जैन दर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली - 16

जैन इतिहास-लेखन की आवश्यकता

-डॉ. विजयकुमार जैन

इतिहास हमारी संस्कृति के विकास की गाथा है, जहाँ धार्मिक इतिहास हमारे धार्मिक मनोबल को बढ़ाता है, वही राजनैतिक इतिहास हमारे देश के गौरव को बढ़ाता है। भारत का धार्मिक एवं राजनैतिक इतिहास बहुत कुछ मिला जुला भी है, वे ही धार्मिक मान्यताएं ऐतिहासिक रूप ले पाती हैं जिनको राजनैतिक संरक्षण मिलता है विशेषकर वैदिक एवं बौद्धपरम्परा का इतिहास राजनैतिक संरक्षण प्राप्त कर पनपता रहा है। जैनपरम्परा ने प्रारम्भ में जरूर राजनैतिक संरक्षण प्राप्त किया पश्चात् स्वयं अपने श्रावकों, अनुयायियों की बदौलत अपना इतिहास दुहरा रही है। सही ही कहा गया है कि–

यह थे वीर जिनका नाम सुनकर जोश आता है।
रगों में जिसके अफसानो पे चक्कर खून खाता है।।

श्रमण परम्परा का वाहक जैनधर्म पहले आर्हत् धर्म आदि नामों से प्रसिद्ध था, जिनके उपासकों को आज जैन नाम दिया जाता है। जैनधर्म के इतिहास एवं जैन साहित्य का इतिहास नाम से प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यह सामगी हमारे पास भरी पड़ी है, लेकिन अभी भी आवश्यकता है कि इसमें अवगाहन करके परिमार्जित रूप में हम प्रस्तुत करें अतः संक्षेप में महत्त्वपूर्ण सामग्री का परिचय दिया जा रहा है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित तीर्थकर महावीर और उनकी परम्परा में समग्र मुनि परम्परा का तथ्यपूर्ण इतिहास है। श्रमणपरम्परा के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में श्रमणों की मान्यताओं एवं जैन सिद्धान्तों का भी सफल निरूपण किया गया है। चार भागों में प्रकाशित इस वृहत्काय ग्रन्थ में भगवान महावीर के बाद हुए आचार्यों, साहित्यकारों का परिचय देते हुए उनकी साधना एवं कृतित्त्व का विवेचन किया गया है। डॉ. कोठिया जी के शब्दों में भगवान

महावीर और उनकी आचार्य परम्परा में लेखक ने अपना जीवन-उत्सर्ग करके श्रद्धा के सुमन चढ़ाए हैं। भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी हीराबाग मुम्बई ने "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ" पांच भागों में प्रकाशित किया है, जिसमें दिगम्बर जैन तीर्थो का इतिहास, भूगोल, पौराणिक आख्यान, स्थापत्य, यात्रामार्ग तथा उपलब्ध साधनों का परिचय दिया गया है। तीर्थक्षेत्रों के परिचय के लिए महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ हैं–

भाग-1 उत्तरप्रदेश के जैन तीर्थ

भाग-2 बिहार, बंगाल, उड़ीसा जैन तीर्थ

भाग-3 मध्यप्रदेश के जैन तीर्थ

भाग-4 राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के जैन तीर्थ

भाग-5 कर्नाटक, दक्षिण भारत के जैन तीर्थ

ऐतिहासिक व्यक्तिकोश के विद्वान लेखक डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा इतिहास के जैन स्रोतों और जैन विद्या के विभिन्न अंगों के अर्न्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मूर्धन्य अधिकारी विद्वान थे।

भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, युगों-युगों में जैन धर्म, जैन शिलालेख संग्रह, जैन धर्म का इतिहास-डॉ. कामता प्रसाद जैन, दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, अशोक जैन था, सम्राट खारबेल, जैन वीरों का इतिहास, भगवान महावीर की अहिंसा और भारत के राज्यों पर इसका प्रभाव, काकन्दीपुर का देव, जैनधर्म और तीर्थकरों की ऐतिहासिकता और प्राचीनता, प्रतिमा लेख संग्रह आदि ग्रन्थ डॉ. कामता प्रसाद जैन के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वीरशासन के प्रभावक आचार्य-कस्तूरचन्द्र कासलीवाल एवं विद्याधर जोहरा पुरकर।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रमुख कृतियां इस प्रकार है–

पुस्तक प्रशस्ति-संग्रह, जैन साहित्य का इतिहास-पार्श्वनाथ विद्याश्रम से प्रकाशित, जैन साहित्य की पूर्व पीठिका-पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास- पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनदर्शन-पण्डित महेन्द्रकुमार जैन, साहित्य का इतिहास, परवार समाज का इतिहास-डॉ नाथूराम प्रेमी।

पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के शब्दों में विद्वानों की रुचि जैन इतिहास के प्रति कम है। इसे मानना ही पड़ेगा।

जैन पुराणों की प्रामाणिकता— जैनधर्म का इतिहास जानने के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पुराण हैं। इन पुराण ग्रन्थों के रचनाकाल और उनमें वर्णित घटनाओं के काल में अनेकों वर्षो का अन्तर है। इनकी ऐतिहासिक प्रमाणिकता इस बात पर अवलम्बित है कि वे कहाँ तक प्राकृतिक नियमों के अनुकूल मानवीय विवेक के अविरुद्ध व अन्य प्रमाणों के अप्रतिकूल घटनाओं का उल्लेख करते हैं। यदि ये घटनाए प्रकृति-विरुद्ध हो, मानवीय बुद्धि के प्रतिकूल हो, अन्य प्रमाणों से वाधित हो, तो वे धार्मिक श्रद्धा के सिवाय किसी अन्य आधार पर विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती पर यदि वे उक्त नियमों और प्रमाणों से बाधित न होती हुई पूर्वकाल का युक्तिसंगत दर्शन कराती हो।

अब तक के इतिहास-लेखन की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह कार्य बडे महत्त्व का एवं श्रम-साध्य है।

विद्वानो का मानना है कि कोई भी धार्मिक इतिहास अपनी परम्परा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, उसी तरह राजनैतिक इतिहास तत्कालीन राजाओं से प्रभावित होता है फिर भी एक सीमा तक सच्चाई स्वीकार करनी चाहिए जैसे-भारत की गुलामी का इतिहास है उसे कैसे मिटा सकते है, भले ही उस समय कितने देश-भक्तों का गौरवपूर्ण इतिहास है उनकी कुर्बानी की गाथा है।

इसी प्रकार हमको धार्मिक उतार-चढ़ाव के बीच सच्चाई स्वीकार करनी *चाहिए। इससे एक बात महत्त्वपूर्ण* है कि यह भ्रम हटाना चाहिए कि सब कुछ पुराना अच्छा होता है क्योंकि पहले चोरी हुई होगी तभी अचौर्याणुव्रत का प्रतिपादन किया गया होगा, पहले हिंसा हुई होगी तभी हम अहिंसा की बात करेगे। इसलिए जो पहले है वह श्रेष्ठ है तब तो हिंसा श्रेष्ठ हो जाएगी।

हमारी कसौटी भी साक्ष्य के आधार पर पूर्णतया आधारित नहीं है। हमारी कसौटी है कि जो सिद्धान्त अहिंसा एवं वीतरागता का पोषक है उसके हम

समर्थक है। जो इसके विपरीत है वह हमारे लिए स्वीकार्य नहीं है। आज संघों में मात्र अपनी आचार्य परम्परा का इस प्रकार महत्त्व दिया गया है कि पहले की परम्परा विस्मृत हुई दिखाई देती है। श्वेताम्बर-दिगम्बर के झगड़ो एवं असंवेदशीलता ने तो पूरी द्वादशांग वाणी पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया।

एक बात जो मुख्य रूप से अखरने वाली बात है। वह है कि हमारे साहित्य को इतिहास के स्रोत के रूप मे उस तरह से स्वीकार नहीं किया जाता। जिस प्रकार बौद्ध ग्रन्थ एव रामायण महाभारत आदि को स्वीकार किया जाता है इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने साहित्य को व्यवस्थित रूप से अनुवाद सहित उपलब्ध कराएं।

आज हमारे पास जो ऐतिहासिक धरोहर है उनका भी हम सही मूल्याङ्कन नही करा पा रहे है जैसे भारतवर्ष का नाम-भरत के आधार पर हुआ जैसे भारत का प्रथम गणतन्त्र वैशाली था।

हमको दिगम्बर/श्वेताम्बर के आपसी मतभेदों को कुछ सीमाओं तक तोडना होगा जैसे-आगमों के सन्दर्भो में आदि।

इस प्रकार जैन इतिहास के लेखन में अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
लखनऊ

पदार्थों का त्रिलक्षणात्मक एवं त्रिपदात्मक स्वरूप और स्व-समय प्रवृत्ति

–डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

हीरा काष्ट की प्रजाति का है। हीरे की काणिकाओं के घर्षण से ही उसमें मन मोहक चकाचौंध उत्पन्न होती है। इस प्रकार हीरे की चमक हीरे में से हीरे द्वारा हीरे में आती हैं। इस स्थूल ज्ञान से प्रायः सभी परिचित है। हीरे को उच्च ताप स्तर पर दग्ध करने पर वह कोयले में परिवर्तित हो जाता है। अवस्था परिवर्तन की प्रक्रिया मे वही कोयला अपनी उपादान शक्ति की योग्यता से फिर काष्ट हीरा में बदल जाता है। द्रव्यों में परिवर्तन की यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है। द्रव्य का अस्तित्व होकर भी वह अपने स्वभाव को कायम रखकर नित-नीवन रूप से बदल रहा है और बदलता रहेगा। कोई भी परिवर्तन अहेतुक नहीं है। सर्वत्र कारण-कार्य व्यवस्था प्रभावशील है, यद्यपि कभी-कभी यह परिवर्तन कौतुहल जैसा लगता है। इस परिर्वतन को किसी ने क्षण-भंगुर अवस्था-रूप देखा तो किसी ने कूटस्थ-नित्य-द्रव्य रूप में देखा। वेदानुयायीयो ने इसे ईश्वर कृत मानकर सृजक-ब्रह्मा, संरक्षक-विष्णु और संहारक-महेश के कार्य रूप देखा। अंग्रेजी भाषा में ईश्वर को गौड (GOD) कहते हैं। यह जी. ओ. और डी. अक्षर से बना है। उन्होंने जी से जेनरेटर, ओ से आपरेटर और डी से डिस्ट्रक्टर रूप में स्वीकार किया है। पदार्थ-विज्ञानियों ने वस्तु स्वरूप की इन तीन अवस्थाओं को न्यूट्रान इलेक्ट्रान एवं प्रोटान के रूप में मान्य किया। जिनेन्द्र देव प्रणीत जैन दर्शन मे द्रव्यों के सत-स्वरूप के त्रिलक्षणात्मक एवं त्रिपदात्मक रूप में इसे व्याख्यायित कर लोक की स्वचालित व्यवस्था का तार्किक-यर्थाथ आधार प्रदान किया गया है।

जैनदर्शन और आत्मशोधन रूप जैन धर्म मे 'तीन' का विशिष्ट स्थान है। लगता है दर्शन और धर्म तीन-त्रिपद की धुरी पर ही घूम रहा है। तीन-लोक,

तीन-काल और तीन-वलय। त्रिरत्न-मोक्षमार्ग और त्रिदोष-संसार मार्ग। तीन-चेतना, तीन-गुप्ति, तीन-उपयोगी, तीन-करण, तीन-परिणाम, तीन-कर्म, तीन-बंक, तीन-निदान, तीन-भाव, तीन-गारव, तीन-मकार। सत-स्वरूप त्रिलक्षणात्मक और त्रिपदात्मक तथा वस्तु को जानने के तीन साधन।

पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द ने लोक की तत्वव्यवस्था एवं कारण-कार्यत्व के शाश्वत सिद्धान्त की घोषणा करते हुए कहा कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की उत्पाद नहीं है, भाव-सत् द्रव्य-गुण-पर्याय में उत्पाद व्यय करते हैं। प्रकारान्तर से उत्पाद होने से कहीं असत् की उत्पत्ति नहीं होती और व्यय होने से कहीं सत् का विनाश नहीं होता। आचार्य के शब्दों में–

भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्य चेव उत्पादो
गुण पज्जाएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति (पंचा. सं. 15)

जीवादि द्रव्य भाव हैं जिनका कभी नाश नहीं होता और अभाव का उत्पाद नही होता। मनुष्य से देव पर्याय पाने में जीव जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त करता है तथापि जीव उत्पन्न नहीं होता और नष्ट नहीं होता; देव, मनुष्य ऐसी पर्याय उत्पन्न होती और विनष्ट होती है (गा. 17-18)। यहाँ ध्रुवता की अपेक्षा सत् का विनाश या असत् का उत्पाद नहीं कहा (पं. गा 19)। मनुष्य, देव आदि पर्यायों मे जीव के जन्म-मरण के रहस्य में जो त्रिलक्षणात्मक एवं त्रिपदात्मक सत्-सिद्धान्त प्रभावशील होता है वही सिद्धान्त लोक के सभी द्रव्यों, तत्वों एवं पदार्थो को नियंत्रित-अनुशासित करता है। इस दृष्टि से सत् स्वरूप अकृत, अहेतुक, अनादि-निधन, स्व-संचालित लोक व्यवस्था का आधार है जो अनंत काल तक निर्बाध रूप से गतिमान होकर लोक के अस्तित्व को बनाऐ रखेगा।

अध्यात्म जगत में सत् स्वरूप की उपयोगिता समझने हेतु, द्रव्य के सत्-स्वरूप की व्याख्या के पहिले, यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि जीव अनादि काल से तत्त्वस्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न जिन कारणों से दुखी है, वे निम्न प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ हैं–

1. द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्मो में 'यह मैं हूँ' और मुझमें 'यह कर्म-नो कर्म हैं, (समयसार गा. 19)। पर से एकत्व-ममत्व भाव।
2. 'मैं पर जीवों को मारता हूँ या पर जीव मुझे मारते हैं,' 'मैं पर जीवों को जिलाता हूँ या पर जीव मुझे जिलाते हैं' तथा 'मैं पर जीवों को सुखी-दुखी करता हूँ या पर जीव मुझे सुखी-दुखी करते हैं' ऐसी मोह-अज्ञान रूप मान्यता (स. सार गा. 247, 250, 253)। पर के कर्तृत्व-स्वामित्व की भावना।
3. मैं कर्म प्रकृति के निमित्त से उपजता-निशता हूँ और कर्म फल भोगता हूँ (स. सार गा. 314/315) परतन्त्रता एवं परावलम्बन की भावना।
4. पदार्थ के स्वरूप को नहीं जानना, समझना और (आत्म विस्मृतकर) पर-द्रव्य को अपना मानना (गा. 324)। अविद्या-मोह की निष्पत्ति।
5. अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव उत्पन्न होने के कारण निरंतर कर्म बंध को करता है (स. सा. गा. 126, 127)। कर्मोदय-कर्मबध के दुष्चक्र का मूल अज्ञानमय भाव एव पर-समय प्रवृत्ति है।

जीव के उक्त दु:ख के कारणों का विनाश दीपक-प्रकाश जैसा उस समय हो जाता है जब जीव द्रव्य के सत्-सिद्धान्त के हार्द को तत्व निष्ठा पूर्वक समझकर आत्मानुभव एवं शुद्धोपयोग द्वारा कर्म-बंधन काट सिद्धालय में अविनाशी, अतीन्द्रिय, आत्मीक-आनंद का भोग चिरकाल तक करेगा। इसका प्रारम्भ होगा सम्यग्दर्शन-ज्ञान से। आचार्य कुन्द-कुन्द के शब्दों में भूतार्थ रूप से अवस्थित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष का श्रद्धान-सम्यग्दर्शन है (सार गा. 13)। इन नव पदार्थो के मध्य छिपी आत्मा की ज्ञान ज्योति द्रव्य के सत् स्वरूप के ज्ञान एवं निज आत्मतत्व के भाव भासन से प्रकाश मात्र होती है इस दृष्टि से सत् सत्ता के सूचक के साथ सत्य-धर्म अर्थात् Truth is God, सत्य ही ईश्वर है का सूचक है। यह ऐसा है जो 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की लोकोक्ति को चरिचार्थ करता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्य का एकत्व-विभक्त रूप ही सौंदर्य का प्रतीक है।

त्रिलक्षणात्मक सत्-स्वरूप– आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य का लक्षण सत् कहा

है। **'सत् द्रव्य लक्षणं'** (सूत्र 5/29) और सत् का लक्षण **'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'** कहा है (सूत्र 5/30)। सत् सत्ता-अस्तित्व का सूचक है। सत्ता स्वभावतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होती है। अपने मौलिक तत्त्व अर्थात् द्रव्यत्व को स्थिर (ध्रौव्य) रखकर पूर्व कारण रूप पर्याय का विनाश और उत्तर कार्य रूप पर्याय की उत्पत्ति होना, प्रत्येक द्रव्य की त्रिकाल नियति है। यह तीनों कार्य एक ही समय में होते हैं। इसलिए द्रव्य नित्यानित्य है। नित्य होते हुए भी कथंचित् अनित्य है और अनित्य होते हुए भी कथंचित नित्य है। द्रव्य रूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य। इस प्रकार द्रव्य त्रिलक्षण रूप है।

'सत् द्रव्य लक्षण' सूत्र मे सत् शब्द अनेकार्थी है। धवला के टीकाकार आचार्य वीरसेन के अनुसार सत् का अर्थ तत्त्व है। यह सत् सर्व पदार्थो में व्याप्त है और सर्व विचारों का आधार है। आचार्य अकलंकदेव ने सत् शब्द का प्रयोग प्रशंसा, अस्तित्व प्रतिज्ञा एवं आदर सूचक के रूप मे किया है। विद्यमान संदर्भ में सत् शब्द सर्व द्रव्यो के अस्तित्व-सत्ता का सूचक है। सत् की गति सर्व पदार्थो में अप्रतिहत होने से वह त्रैकालिक है वह स्वयं सिद्ध एवं अहेतुक होने से सर्वत्र सर्व अवस्थाओं में पाया जाता है। सत् गुण, सत्ता, तत्व, द्रव्य, वस्तु, अर्थ, विधि एव अस्तित्व का सूचक है।

सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। वस्तु स्वभाव का यह त्रैकालिक सत् ही धर्म रूप सत्य है जो विश्व व्यवस्था का आधार है। इसके कारण सभी पदार्थ। वस्तुएं विश्व में अनादि काल से अवस्थित हैं और अनंत काल तक बनी रहेंगी। सभी पदार्थ अपने-अपने शुद्ध स्वभाव अर्थात् परमपारिणामिक भाव रूप सदैव बने रहें, उनमें किसी प्रकार की विकृति न हो, कोई पदार्थ एक-दूसरे की सत्ता का अतिक्रमण न करे, केवल अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में निर्विकार रूप से परिणमित होते रहें, यही उनका सौन्दर्य आनंद और सत्/सत्य रूप धर्म है।

लोक छह द्रव्यों का समूह है— जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव द्रव्य चेतन है शेष अचेतन हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है, शेप अरूपी हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनंत अर्थात अनतानंत हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है और काल द्रव्य असंख्यात हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है, शेष द्रव्य बहु प्रदेशी होने से अस्तिकाय रूप हैं। जीव और पुद्‌गल द्रव्य में स्वभाव और विभाव रूप परिणमन करने की क्षमता है जबकि शेष चार द्रव्यों का परिणमन निरंतर शुद्ध ही रहता है। जीव और पुद्‌गल द्रव्य परिणामी, क्रियावती शक्ति वाले हैं। शेष चार द्रव्य अपरिणामी-निष्क्रिय हैं।

विश्व में नित नवीन परिर्वतन का आधार सत् द्रव्य का त्रिलक्षण स्वभाव है। चेतन-अचेतन द्रव्यों में अंतरंग और बहिरंग निमित्त से प्रति समय नवीन अवस्था प्राप्त होती है, उसे उत्पाद कहते हैं, उत्पाद दो प्रकार का है— स्वनिमित्तिक उत्पाद यथा-अगुरूलघु गुण का बर्तन और परनिमित्तिक उत्पाद-धर्मादिक निष्क्रिय द्रव्यों में पर प्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद अश्वादिक की गति स्थिति अवगाहन पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं जैसे घर की उत्पत्ति में पिण्ड रूप आकार का त्याग हो जाता है। द्रव्य का जो अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका उत्पाद और व्यय नहीं होता किन्तु वह स्थिर रहता है। इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टी घर और पिण्ड में मिट्टी का अन्वय होना। इस प्रकार एक ही द्रव्य/पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्यत्व (स्थिति) एक साथ होती है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वही कुछ काल तक स्थित रहकर बाद में व्यय को प्राप्त होता है। उत्पत्ति और व्यय मे द्रव्य का अन्वय बना रहता है। आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य को केवल सामान्य रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप बताया गया। आचार्य समन्तभद्र प्रतिपादित किया कि वस्तु का सामान्य रूप से न तो उत्पाद होता है और न विनाश। किन्तु उत्पाद और विनाश विशेष रूप से होता है। इस प्रकार द्रव्य का उत्पाद और विनाश नही होता मात्र पर्याय का ही होता है। विनाश और उत्पन्न पर्यायों में द्रव्य का अन्वय सदैव बना रहता है।

उत्पाद और विनाश द्रव्य का नहीं होता, उसका सदभाव बना रहता है। किन्तु उसकी पर्यायें उत्पाद-विनाश व ध्रुवता करती हैं (प्रसार 11) निश्चय से उत्पाद विनाश और ध्रौव्य ये तीनों पर्यायों के होते हैं। सत् के नहीं। क्योंकि

वे पर्यायें ही द्रव्य है, इसलिये द्रव्य ही उत्पादादि तीनों वाला कहा जाता है (पंचाध्यायी पूर्वी 200)। पर्याय भी कथंचित ध्रुव है क्योंकि उसकी स्थिति एकक्षण की होती है। द्रव्य में उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य यह तीनों युगपत (अक्रम) से एक साथ होते हैं। किन्तु पर्याय में उत्पाद विनाश और स्थिति क्रम से होती है।

उक्तानुसार एक लोक में सभी चेतन और जड़ पदार्थ स्वतंत्र सत्ता लिए त्रिलक्षण रूप से अपने स्वभाव में अवस्थित हैं। ऐसी स्थिति में जीव और जड़ कर्म के बंधन तथा क्रोधादिक रूप परिणमन क्यों और केसे होता हैं, इसकी मीमांसा आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में की है। उनका तर्क है कि यदि जीव स्वयं कर्म से नहीं बंधा और स्वयं क्रोधादि रूप परिणमन नहीं करता तो वह अपरिणामी ठहरता है, ऐसा होने पर संसार का अभाव प्राप्त होता है। यह कहना कि अपरिणामी जीव को क्रोधादि कर्म क्रोधादिक रूप से परिणमा देते हैं तो यह बात युक्ति युक्त नहीं लगती क्योंकि जीव को स्वयं परिणमन स्वभाव वाला नहीं मानने पर क्रोधादि कर्म उसे क्रोधादिक रूप से कैसे परिणमा सकते हैं? अर्थात् नहीं परिणमा सकते। यदि इस दोष को दूर करने जीव को स्वयं परिणमन शील मानते हैं तो क्रोधादि कर्म जीव को क्रोधादि भाव रूप से परिणमाते हैं यह बात मिथ्या हो जाती है। इससे यही फलित होता है कि जब जीव स्वयं क्रोध रूप से परिणमन करता है तब वह स्वयं क्रोध है, जब स्वयं मान रूप परिणमन करता है तब वह स्वयं मान है (स. सार गा. 116 से 120 व 125)। उन्होंने इसी प्रकार पुद्‌गल कार्माण वर्गणाओं का ज्ञानावरणदिक कर्म रूप परिमणमन करने की मीमांसा की और उसका प्रमुख कारण परिणमन स्वभाव को सिद्ध किया।

जीव कर्म रूप और कर्म जीव रूप क्यों परिणमित नहीं हो सकते उसका समाधान समयसार गाथा 103 में इस प्रकार दिया है–

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं (स. सार 103)

अर्थ– जो जिस द्रव्य या गुण में अनादि काल से वर्त रहा है वह उसे

छोड़कर अन्य द्रव्य या गुण में कभी भी संक्रमित नहीं होता। अन्य रूप से संक्रमित नहीं होती हुई वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है?

वस्तु की इस मर्यादा के कारण आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को तथा गुण को नहीं करता ऐसी स्थिति में आत्मा कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है? निमित्त नैमित्तिक भाव से ऐसा कथन उपचार मात्र है। आत्मा में और कर्ता कर्म भाव की सिद्धि नहीं होती।

इस प्रकार दो द्रव्य एवं गुणों के मध्य स्वतंत्रता के बोध से यह सिद्ध हुआ कि जीव अपने अज्ञान भाव से दुःखी है क्योंकि आत्मा जिस भाव को कर्ता है, उस भाव रूप कर्म (कार्य) का वह कर्ता होता है; ज्ञानी को तो वह ज्ञानमय है और अज्ञानी को अज्ञानमय है (स. सार. 126) इस न्याय के अनुसार जीव जिन शुभ या अशुभ भाव रूप परिणमन करता है तब वह शुभ या अशुभ स्वयं ही होता है और जब वह शुद्धभाव रूप परिणमित होता है तब वह शुद्ध होता है (प्र. सार 9)। शुभ से स्वर्गादिक, अशुभ से नीच गति एवं शुद्ध से सिद्धत्व मिलता है।

उक्त कथन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, वे सब उपादान शक्ति से होते हैं। मिट्टी से घर और कपास से पट बनता है। आचार्य जयसेन के अनुसार उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है। ज्ञान-भाव रूप उपादान से ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञान-भाव रूप उपादान से अज्ञानमय भाव होता है (स0 सार0 तात्पर्यवृत्ति गाथा 186 टीका)। इस पदार्थ ज्ञान के इस गूढ़ रहस्य को हृदयंगम करने वाले महानुभाव को शुद्धात्मा जानने-अनुभव करने पर अशुद्धात्मा प्राप्त होता है (स0 सार गा. 186) और शुद्धात्मा की उपलब्धि से कर्मागमन के अभाव रूप संवर होता है।

सत्-स्वरूप-अनुभव से स्व-समय की प्राप्ति— दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित भव्य जीव स्व-समय है, पुद्गल कर्म-प्रदेश स्थित जीव पर-समय है (स. सार 2)। जो जीव पर्याय में लीन है वह पर-समय है और जो आत्म स्वभाव में लीन है वह स्व-समय है (प्र. सार. 94) पर्याय-मूढ़ मिथ्यादृष्टि होता है। सत् स्वभाव

की अस्वीकृति भी पर-समय है (प्र. सा. 98)।

जीवादिक सभी द्रव्य सत् स्वरूप होने से अनादिकाल से अपने-अपने पारिणामिक भाव रूप धुरी पर ध्रुव रूप से पृथक-पृथक गुणों के क्रम बद्ध उत्पाद-व्यय के रूप में परिणमित होकर स्वतंत्र-स्वाधीन, पर निरपेक्ष सत्ता बनाये हुए हैं जिससे लोक संचालित हो रहा है। उसका कोई निर्माता-रक्षक-विद्धंसक नहीं है। जीव और पुदग्ल कर्म-बंध का कारण जीव का अज्ञान भाव एवं पदार्थो का अयर्थाथज्ञान है। उसने अपने ज्ञायक स्वभाव रूप पारिणामिक ध्रुव भाव को विस्मृत कर मतिज्ञानादि गुणों एवं नर-नरकादि पर्यायों को अपना मान लिया है। तदनुसार पर्यायलीन होकर पर-समय रूप प्रवृत्त होकर दुःखी हो रहा है। वह अपनी भूल सुधार कर यदि पदार्थो के यथार्थज्ञान सहित आत्मा के ध्रुव स्वभाव पर श्रृद्धान करे और उसमें अपनापन स्थापित करे तो शुद्ध नय की विषय भूत-सामान्य, अभेद, नित्य और एक आत्मा वस्तु का अनुभव कर स्व-समय रूप प्रवृत्त होकर शुद्धोपयोग के द्वारा मुक्त-स्वतंत्र हो सकता है।

लोक व्यवहार में सत्-स्वरूप की स्वीकृति एवं स्व-आत्मा सत् की अनुभूति से साधक में सम्पूर्ण द्रव्यों एवं उनके परिणमन के प्रति अस्तित्व बोध का भाव जाग्रत होता है। उनकी सत्ता की स्वीकृति से उनके प्रति सहज-आदर भाव और समत्व भाव हृदय में उत्पन्न होता है। जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ्यरूप भाव का स्रोत संत्-स्वभाव से उदगामित होकर केवल-ज्ञान गंगा में अवगाहन कराता है। सत् स्वरूप की स्वीकृति, विभाव-भाव की विस्मृति और ज्ञायक- स्वभाव की उपलब्धि यह भी सत् की चरम परिणति है। आत्म-सिद्धि ही सत्-साधना का सुफल है।

द्रव्य का त्रिपदात्मक लक्षण— द्रव्य त्रिलक्षणात्मक के साथ त्रिपदात्मक भी है। इस सम्बन्ध में प्रवचन सार की ज्ञेय तत्व प्रज्ञापन की निम्न गाथा महत्वपूर्ण है-

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढ़ा हि पर समयः (गा. 93)

अर्थ– पदार्थ द्रव्य स्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों की पर्यायें होती हैं। पर्याय-मूढ़ (पर्याय में लीन) जीव पर समय-अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पदार्थ को द्रव्य गुण पर्याय रूप त्रिपदात्मक कहकर मनुष्य देव आदि असमानजातीय पर्याय को अपना मानने एवं द्रव्य स्वभाव को विस्मृत करने वाले जीव को परसमय -मिथ्यादृष्टि कहा है।

आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में सत् द्रव्य के साथ 'गुणपर्ययवद द्रव्यम' (सूत्र 5/38) कहकर द्रव्य को गुण पर्यायवान कहा है। 'अन्वयिनो गुणा' गुण अन्वयी होते हैं और द्रव्य के साथ सदैव रहते हैं। 'व्यतिरेकिणः पर्यायाः' पर्याय व्यतिरेकी या क्षणमंगुर होती हैं। प्रत्येक द्रव्य में सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें होती हैं। गुण अन्वय-स्वभाव होने से ध्रौव्य के अविनाभावी हैं और पर्याय व्यतिरेक-स्वभाव होने से उत्पाद और व्यय के अविनाभावी हैं। इस दृष्टि से द्रव्य का त्रिलक्षणात्मक सत् स्वरूप एवं त्रिपदात्मक स्वरूप दोनों का एक ही अभिप्राय है किन्तु कथन का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य भिन्न-भिन्न होकर भी स्व-समय में प्रवृत्ति का उद्देश्य एक ही है।

गुण– द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने 'द्रव्याश्रिया निर्गुणा गुणाः' (सूत्र 5/41) अर्थात जो द्रव्य के आश्रय से रहता हुआ भी दूसरे गुण से रहित है, उसे गुण कहते हैं, के रूप में परिभाषित किया है। न्यापदीपिकाकार के अनुसार जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं। द्रव्य और गुण के मध्य आधार-आधेय सम्बन्ध होता है। द्रव्य आधार है और गुण आधेय। गुण द्रव्य के आश्रय रहते हैं किन्तु गुण के आश्रय से अन्य गुण नहीं रहते हैं। गुणों के मध्य आधार-आधेय एवं कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं होता। एक गुण दूसरे गुण से स्वतंत्र होता हुआ भी साथ-साथ रहते हैं। गुणों के मध्य अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार द्रव्य और गुणों के मध्य नित्य तादात्मय सम्बन्ध होता है। इस कारण द्रव्य से गुण कभी भिन्न नहीं होते।

प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण होते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैः– सामान्य और विशेष। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व और प्रदेशत्व यह छह सामान्य गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। अन्य सामान्य गुणों में जीव चेतन और अमूर्तिक हैं। पुद्गल अचेतन और मूर्तिक है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन और अमूर्तिक हैं। इस प्रकार दो-दो गुण सामान्य में सम्मलित हो जाते हैं (नय चक्र वृ. 16)। द्रव्यों के विशेष गुण इस प्रकार हैं– जीव-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुणों वाला है। पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श गुण वाला है। धर्म द्रव्य गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य-अवगाहन हेतुत्व और काल द्रव्य-परिणमन हेतुत्व स्वभाव वाले हैं।

द्रव्य के गुण स्वभाव और विभाव रूप में भी वर्गीकृत हैं। जीव और पुद्गल द्रव्यों का परिणमन स्वभाव और विभाव रूप में होता है। क्रियारती शक्ति उसका आधार है। जीव द्रव्य की दृष्टि से केवलज्ञानादि जीव का असाधारण स्वभाव गुण है और अगुरूलघुत्व साधारण स्वभाव गुण है। मति श्रुत आदि ज्ञान जीव के विभाव गुण हैं। इसके भी दो भेद हैं– सम्यग्मति श्रुतादि और मिथ्या मतिश्रुतादि। जीव जब पारिणमिक भाव रूप ज्ञायक ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेता है तब आत्मानुभूति पूर्वक सम्यग्ज्ञानादि की उत्पत्ति होती है। यह सम्यग्ज्ञानादि के आश्रय से ही केवलज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती है। इसे साधन-साध्य भाव कहते हैं। इसके अनुसार शुद्ध गुणांश से पूर्णता की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से द्रव्य-गुण-पर्याय त्रिपद में गुण का विशेष महत्व हैं। पर्याय तो क्षणिक होने से हेय-पर समय कही गयी है।

पुद्गल द्रव्य का स्वभाव परिणमन परमाणु के रूपादि गुण हैं। विभाव परिणमन स्कंध के विभाव गुण हैं। शेष चार गुणों का परिणमन स्वभाव रूप ही कहा गया है।

स्वभाव रूप गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं, जैसे–सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, आदि। वस्तु के अभाव-रूप गुणों को धर्म के प्रतिजीवी गुण कहते हैं, जैसे वस्तुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि। प्रागभाव,

प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुण स्वरूप अभाव अंश माने जाते हैं।

शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति सब शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। लक्षण, गुण, अंग ये सब एकार्थवाची शब्द हैं (पं. ध./उ/478)।

पर्याय— द्रव्य अनंत गुणों का पिण्ड है। गुणों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जो पर्याय कहलाता है। द्रव्य की परिणति या कार्य तथा द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। जो सर्व और भेद को प्राप्त करे सो पर्याय है—'परि समन्तादायः पर्यायः' (रा. वा. 1/33/1/95/6)। पर्याय का अर्थ वस्तु का अंश है। वह दो प्रकार का है— ध्रुव अन्वयी और क्षणिक व्यतिरेकी। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। पर्याय गुणों के विशेष परिणमन रूप हैं। पर्यायें क्रम भावी/क्रम नियमित क्षणिक होती हैं। वे भी कथंचित सत् हैं। पर्याय शुद्ध-अशुद्ध उपादान की तत्काल की योग्यतानुसार उत्पन्न-विनाश को प्राप्त होती रहतीं है। कारण अनुसार कार्य होता है। कारणों का समूह 'समवाय' कहा जाता है, वे पॉच हैं :— स्वभाव, निमित्त, नियति (होनहार), पुरूषार्थ और भवितव्य। इनमें 'स्वभाव' द्रव्य है, शेष पर्यायें हैं। जीव के पाँच भावों में पारिणामिक भाव स्वभाव भाव है, शेष चार भाव पर्यायें हैं।

पर्याय के भेद जानना भी अपेक्षित है। पर्याय दो प्रकार की है— द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय। अन्य प्रकार से इसके दो भेद है— व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय। पर्यायें स्वभाव और विभाव रूप दो-दो प्रकार की होती हैं यथा— स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण पर्याय और विभाव गुण पर्याय। अर्थ व गुण पर्याय एकार्थी हैं तथा व्यंजन व द्रव्य पर्याय एकार्थवाची हैं। द्रव्य (व्यंजन) पर्याय भी दो प्रकार की है—समानजातीय द्रव्य पर्याय जैसे स्कंध और असमान जातीय द्रव्य पर्याय जैसे नर, देवादिक की जीव-पुद्गलात्मक पर्याय। व्यंजन पर्याय स्थूल-शब्द गोचर है। गुण पर्याय सूक्ष्म ज्ञान विषयक है।

कर्मोपाधि रहित पर्यायें स्वभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय है जैसे सिद्ध एवं अविभागी परमाणु। कर्मोपाधिसहित पर्यायें विभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय है जैसे मनुष्य, देव एवं पुदग्ल एकंध। द्रव्य कर्म एवं भाव कर्म से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य जीव द्रव्य की स्वभाव गुण पर्याय है। परमाणु के रूप रसादि पुद्गल द्रव्य की स्वभाव गुण पर्याय है। मति, श्रुत अवधि व मनःपर्याय ये चार ज्ञान एवं तीन अज्ञान ये सब जीव द्रव्य की विभाव गुण पर्याय है। इसके भी ज्ञान-अज्ञान विभाजक सम्यक्-मिथ्या रूप दो भेद हैं। जीव-पुद्गल द्रव्य परिणामी होने से उनकी पर्यायें स्वभाव-विभाव रूप होती हैं। शेष चार द्रव्यों की विभाव गुण पर्याय नहीं होती।

स्वभाव गुण पर्याय के भी दो भेद हैं—कारण शुद्ध पर्याय और कार्यशुद्ध पर्याय। पारिणामिक भाव की परिणति कारण शुद्ध पर्याय है। द्रव्य, गुण और पारिणामिक भाव की परिणति रूप कारण शुद्ध पर्याय को कारण परमात्मा भी कहते हैं। इसके आश्रय से केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्राप्ति कार्य शुद्ध पर्याय कहलाती है। इसे ही कार्य परमात्मा भी कहते हैं।

पर्यायों के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पर्याय-बुद्धि वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है। फिर इनके ज्ञान की क्या उपयोगिता है? त्रिपादत्मक द्रव्य, गुण और पर्याय में द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है जिसे कारण परमात्मा या कारण शुद्ध पर्याय कहा है। पदार्थो के सत् स्वरूप और उनकी स्वतंत्रता का ज्ञान कर आत्मा के द्रव्य स्वभाव रूप परमपारिणामिक भाव का आश्रय या स्व-सन्मुखतासे मति-श्रुत ज्ञानादि को सम्यक कर विशुद्ध परिणामों को पार कर शुद्धोपयोग द्वारा समस्त कर्मो का क्षय कर केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय रूप कार्य परमात्मा बना जा सकता है।

आचार्य कुन्द कुन्द ने त्रिपदात्मक द्रव्य के लक्षण के ज्ञान-अनुभव को सुफल मोहग्रंथि का क्षय होना बताया है। उन्हीं के शब्दों में—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं
सो जाणदि अप्पाणं मोहोखलु जादि तस्स लयं। (प्रवचनसार, 80)

अर्थ– जो वास्तव में अरहंत भगवान को द्रव्य रूप से, गुण रूप से ओर पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है। क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अंतर नहीं है। उसका मोह अवश्य लय (क्षय) को प्राप्त होता है। ऐसा जीव आत्मा के सम्यक् तत्व को उपलब्ध कर रागद्वेष को छोड़ता हुआ शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

सभी भव्य आत्माएँ जिनोपदिष्ट द्रव्य के त्रिलक्षणात्मक सत् स्वरूप एवं त्रिपदात्मक-स्वरूप को जानकर आत्मानुभव करें और त्रिरत्न रूप मोक्ष मार्ग द्वारा शुद्धात्मा के आश्रय से स्व-समय रूप शुद्धात्मा की प्राप्ति करें, यही मंगल भावना है। इसमें ही आत्मा के अभ्यूदय एवं निःश्रेयस पद की प्राप्ति सम्भव है। यही लोक कल्याण की मंगल भावना का सृजक है।

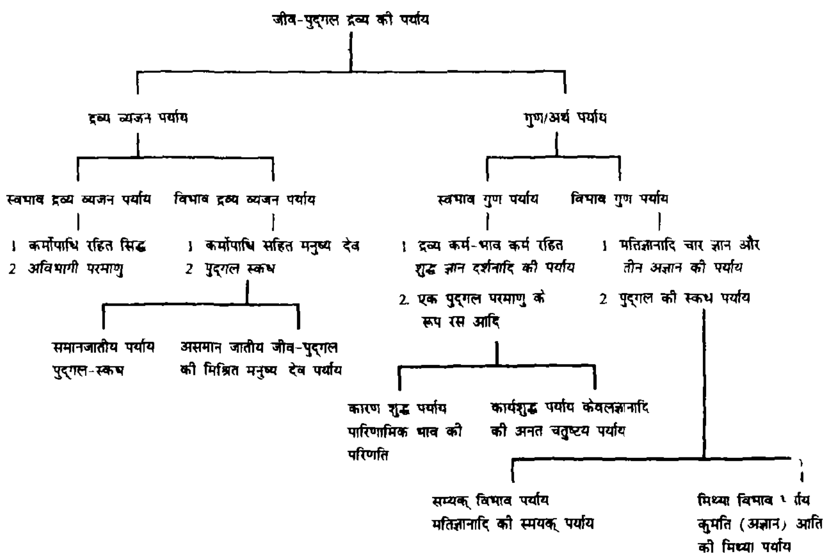

वी-369 ओ श्री एम. कालोनी
अमलाई, जिला-शहडोल (म.प्र.)
फोन : 07652-286268

कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता

—प्राचार्य (पं.) निहालचन्द जैन

जीवन दोनों तरफ फैला है—बाहर भी, भीतर भी। बाहर की खोज विज्ञान है और भीतर की खोज अध्यात्म-विज्ञान है। इसे वीतराग विज्ञान से भी संज्ञित किया जा सकता है। यदि बाहर का भौतिक विज्ञान दृश्य जीवन की जड़ है तो अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ जीवन का महकता फूल है। धर्म का मूल स्रोत अन्तर्ज्ञान-दृष्टि है और विज्ञान का मूल-बुद्धि/तर्क पर टिका है। अन्तर्दृष्टि-सर्वकालिक और शाश्वत होती है जबकि बुद्धि और तर्क-कारणों के बदल जाने से परिवर्तनशील है। इसलिए विज्ञान प्रयोगों के निष्कर्ष पर/अनुभव पर टिका है, जबकि धर्म अनुभूति पर। परन्तु दोनों का उद्‌गम-चैतन्य आत्मा है।

जैसे वायुयान, धरातल पर बनी हवाई-पट्टी पर गतिशील होकर आकाश में ऊपर उठता है, ऐसे ही जीवन का वायुयान विज्ञान की पट्टी पर गतिशील बनकर धर्म के उन्मुक्त आकाश में ऊर्ध्वशील होता है। अतः स्वस्थ-जीवन की दो आखें हैं : विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान-दोनों की रोशनी से ही समन्वय का दर्शन फलित होता है।

विज्ञान समृद्ध हुआ है। इक्कीसवीं शताब्दी सुपर कम्प्यूटर की धुरी पर घूमेगी। सूचनाओं की प्रोद्यौगिकी/ज्ञान कोष में वृद्धि होगी परन्तु यदि अध्यात्म अनुपस्थित रहा तो उसमें सद् दृष्टि का विवेक नहीं जुड़ पायेगा। याद रखें : विवेक रहित ज्ञान से संवदेनशील और सौन्दर्यपरक सृजन-शक्ति की बजाय ध्वंसात्मक शक्ति को ज्यादा बढ़ावा मिलेगा।

धर्म और विज्ञान की सहमैत्री-इक्कीसवीं शताब्दी के लिए शुभाशीष बने और इनकी व्याप्ति विस्तृत हो इस शोधालेख को इसी भाव से निहारा जा सके, तो कर्मसिद्धान्त की शाश्वतता को वैज्ञानिक-आँख से भी पढ़ा जा सकता है।

जैनदर्शन में कर्म की सिद्धि— प्रत्येक जीव मूलतः अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख

और शक्ति वाला है परन्तु जीव के ये मूल गुण वर्तमान में प्रगट नहीं है उसका कारण हमारे भाव-कर्म और द्रव्य कर्म की संतति है।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण तच्छण्णे

(समयसारग गा. 67)

अनन्त चतुष्टय शक्ति वाले जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्षी द्रव्य कर्म भी अनन्त शक्ति सम्पन्न है। जैसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा—

मोहने संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव हिताहित को भूल कर मदमस्त हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्म रूपी मद्य से अपने मूल स्वरूप, शुद्ध रूप को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। जैसे मैल के प्रभाव से वस्त्र की शुभ्रता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मो की सत्ता के कारण जीव संसारी बना दुःख प्राप्त कर रहा है। मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय भाव के उदय से आत्मा मिथ्या दृष्टि, अज्ञानी और अचारित्री हो रहा है।

नास्ति कर्मफलच्छेताकाश्चिल्लोक मयोऽपि च।

(महाभारत)

तीन लोक में कोई ऐसा पुरुष नहीं जो कर्मो के फल को भोगे बिना उन्हें नष्ट कर सके। आंग्ल-भाषा में कहावत है—

"As we Sow, so we reap".

हम जो. बीज बोते हैं उसी के फल की फसल काटते हैं।

जीव परिणाम हेदुं कम्मतं पुग्गला परिणमेति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं, तहवे जीवो वि परिणमदि।।

(समयसार गाथा 80)

जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य

कर्मरूप में बदल जाते हैं। अर्थात् भावों से द्रव्यकर्म आमंत्रित होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य कर्म का सहयोग पाकर जीव मिथ्यात्व और रागादि-भाव रूप परिणाम करता है। जैस पुरुष द्वारा ग्रहण किया आहार रस विपाकों द्वारा मांस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि में रूपान्तरित हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-स्कन्ध (समूह) भी जीवों में रागादि भावों को प्राप्त करके आठ स्वभांव वाले कर्मो में परिणमित हो जाता है।

कर्म का रसायनविज्ञान— कर्म का उदय जीव की स्वतन्त्रता को बाधित करता है और इसे परतंत्र रखना चाहता है। जीव के पारिणामिक भाव और औदयिक भाव, दोनों का संघर्ष निरन्तर चालू है। उस संघर्ष ने जीव की चेतना को तीन भागों में विभाजित कर दिया :—

1. ज्ञान चेतना, 2. कर्म चेतना और 3. कर्मफल चेतना।

1. **ज्ञान चेतना** का काम है मात्र जानना। ऑख के सामने आई वस्तु का ज्ञान हो जाना ज्ञान चेतना है।
2. **कर्म चेतना**— इसका काम रागद्वेष उत्पन्न करना है। पॉचों इन्द्रियों के विषय हमारे सामने आते हैं, उसमें किसी के प्रति राग तो किसी दूसरे विषय के प्रति द्वेष, यह काम मोह का है या कहें कि कर्म चेतना का है।
3. **कर्मफल चेतना**— इसका काम सुख-दुखः की संवेदना पैदा करना है। इष्ट विषय में सुख का संवेदन और अनिष्ट से दुःख का संवेदन, यह कर्मफल चेतना का काम है।

मेडिकल साइन्स के अनुसार अनेक प्रकार की शारीरिक ग्रन्थियों के रसायन (chemicals) बनते हैं और रसों का स्राव होता है। कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म का रसायन बनता है, जिसे कर्म का अनुभाग बंध कहते हैं। कर्म का रसविपाक, ग्रन्थितंत्र और नाड़ीतंत्र को प्रभावित करता है। कर्म उदय आया, विपाक हुआ और नाड़ी/ग्रन्थि तंत्र प्रभावित हो गया। रस बदला और विचार बदल जाते हैं। आचार/व्यवहार बदल जाता है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति यह जानता है कि अमुक काम बुरा है किन्तु जब कर्म का उदय

और विपाक काल आता है, तो उस व्यक्ति से वह काम जैसे कोई जबरन करवा देता है।

जब कर्म का विपाक आता है तो दो स्थितियां बनती हैं : (1) पुण्य कर्म का विपाक आया तो सुख मिलता है-प्रिय संवेदन होता है। धर्म के प्रति श्रद्धाभिभूत सम्यग्दृष्टि उस समय विचारता है कि मैं पुण्य का ऐसा भोग करूँ जिससे आगे वह पाप का कारण न बन जाये। वह सोचता है कि पुण्य से जो सुख-सुविधाएं/भोग प्राप्त हैं, इन्हें मैं नहीं भोगूंगा। वह कर्मो से हल्का होता हुआ निर्जरा को प्राप्त होता है। धर्म से विहीन व्यक्ति पुण्यकर्म के विपाक समय मिली सुख/सुविधाओं में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने हेय/उपादेय का ख्याल नहीं रखता जिससे वह आगामी कर्मो का बंध ही करता है।

(2) जब पाप कर्म का विपाक आता है तो व्यक्ति बेहाल हो जाता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा विचारता है कि मैंने अतीत में अशुभ कर्म किया जिसका यह दुःख रूप फल है अतः इसका भोक्ता क्यों बनूँ? ऐसा विचार कर वह समता भाव रखता है, जिससे नए पाप कर्म नहीं बांधता है।

उक्त दोनों स्थितियाँ तब बनतीं हैं जब ज्ञान चेतना जागती है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया (वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि)— कर्म का आस्रव, बंध तथा कर्म का संवर और निर्जरा, वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार से व्याख्यायित की जा सकती है।

कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता— पुद्गल द्रव्य (Physical matter) को 33 वर्गणाओं (Classifications) के अन्तर्गत रखा माना गया है। इनमें एक कार्मण वर्गणा भी है। जो जीव के विभाव परिणमन के अनुसार कर्मरूप बदलकर जीव/आत्मा के साथ संयुक्त हो जाते हैं। सम्पूर्ण लोकाकाश इन कार्मण रूप सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य से भरा हुआ है, जैसे सम्पूर्ण आकाश में विद्युत् चुम्बकीय तंरगें (Electro magnetic waves) व्याप्त हैं। कर्म-परमाणु के पुंज अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, तरंग रूप में गमन करते हुए माने जा सकते हैं। जिनकी कम्पंनाक (Frequencies) बहुत उच्चतम-X-Rays के कम्पनांक (10^{11} — 10^{17} Htz) की तुलना में असंख्य गुना ज्यादा होती है।

एक निश्चित कम्पन की वि. चु. तरंगों को रेडियो-रिसीवर द्वारा प्राप्त करने के लिए, उसमें एक ऐसे दोलित्र (Oscillator) का उपयोग करते हैं जो उस विशिष्ट कम्पन की तरंगों को पैदा कर रहा हो। उसे विद्युतीय साम्यावस्था का सिद्धान्त (Principal of Electrical Resonance) कहते हैं। इससे आकाश में व्याप्त वह विशेष कम्पन वाली तरंगें रिसीवर द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं। रिसीवर में यह संधारित्र-प्रणाली (Condenser) द्वारा सम्पन्न (Tunned) कर ली जाती है।

आत्म-प्रदेशों द्वारा कार्मण स्कन्धों की तरंगों को ग्रहण करने में यही प्रक्रिया होती है। कर्म उदय/विपाक के समय, आत्म-प्रदेशों में तीव्र कम्पन होते हैं, जिससे अशुद्ध भावों का सृजन होता है।

आत्मा प्रदेशों में यह कम्पन (Vibrations) मन, वाणी और शरीर के अंग-उपांग के परिस्पन्दन की सहायता से होता है, जिसे जैनदर्शन में "योग" संज्ञा से अभिहित किया गया।

यहाँ आत्म-प्रदेश दोलित्र (Oscillator) की भांति व्यवहार करता है। आत्म भावों के अनुरूप उत्पन्न तरंगें जिस तरंग लम्बाई (wavelength-) की होती हैं उन्हीं तरंग लम्बाई (A) वाली कर्म-वर्गणा की तरंगों को स्वतः आकाश से अपनी ओर आकर्षित कर ग्रहण कर लेता है (वि. साम्या. के सिद्धान्तानुसार) जिसे जैनदर्शन की भाषा में कहें कि भाव कर्मो से द्रव्यकर्मो का आना (आस्रव तत्त्व) होता है।

शंका-आत्म प्रदेशों में कम्पन क्यों होता है? कौन प्रेरक है?

समाधान-पूर्वबद्ध कर्म का जब विपाक समय आता है तो वे आत्म-प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न करके विलग हो जाते हैं। कर्म विशेष का उदय/विपाक काल के समय यह परिस्पन्दन होता है। चूंकि प्रति समय कर्म का उदय होता है जिससे प्रति समय आत्म-प्रदेश-स्पन्दन भी होता रहता है और वे नवीन कर्मों को ग्रहण करने की भूमिका का निर्माण करते हैं।

आत्म प्रदेश और कर्म-परमाणुओं का यह संश्लेष, कर्मबंध है। इस कर्म बंध के दो काराक (Elements) हैं :

(1) भाव-मोह, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, काषायिक (क्रोध, लोभादि) आदि जीव के वैभाविक (अशुद्ध/विकृत) भाव हैं। जो आत्म प्रदेशों में (Self Oscillations) उत्पन्न करते हैं।

(2) द्रव्य बंध-नवीन कर्म-परमाणुओं का पूर्वबद्ध कर्मो के साथ या आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही रूप हो जाना द्रव्यबंध है।

" सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्‌गलानादत्ते स बंधः।।

(तत्वार्थसूत्र 8-21)

कषाय सहित होने पर कार्मण स्कन्धों को ग्रहण करना बंध है विज्ञान की भाषा में कहें तो आत्म-प्रदेशों के कम्पन (Oscillation) तथा कार्मण तरंगों के कम्पन (Vibration/frequencies) का अध्यारोपण (Interference) होना बंध है।

जैन दर्शन में बंध का स्वरूप–

जोगा पयडि पएसा ठिदि अणुभागा कसायदो कुणदि।
अयरिणदुच्छिण्णेसु य बंध ठिदिकारणं णत्थि।।

(गो. कर्मकाण्ड-257-216)

संसारीजीव-योग से प्रकृति व प्रदेश बंध को करता है तथा कषाय से स्थिति एवं अनुभाग-बंध-करता है। जो जीव योग और कषाय से युक्त नहीं है, उनके कर्मबंध भी नहीं है। इस प्रकार कर्मबंध चार प्रकार का होता है :

1. **प्रकृति बंध–** कर्म की प्रकृति/स्वभाव को प्रकृति बंध कहा गया जो आठ प्रकार का है :

1. **ज्ञानावरणी कर्म–** जो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को ढक देता है जैसे भगवान की प्रतिमा के सामने वस्त्र रहने से उनका रूप ढ़क जाता है।
2. **दर्शनावरणी कर्म–** चेतना रूपी प्रकाश को आवृत करने वाला कर्म है जैसे द्वारपाल-राजा/मंत्री से मिलने नहीं देता।
3. **वेदनीय कर्म–** इन्द्रियों का अपने रूपादि विषयों का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें साता/असाता रूप सुख/दुःख का जो कर्म वेदन

(अनुभव) कराते हैं वे वेदनीय कर्म है।

4. **मोहनीय कर्म**– जो जीव को मोहित करे। जो जीव के दर्शन गुण को मोहित करके उसे मिथ्यादृष्टि बनाता है, वह दर्शन मोहनीय है तथा जो जीव के चारित्र गुण को मोहित करके आत्मा के चारित्र गुण को प्रकट नहीं होने देता वह चारित्र मोहनीय है जैसे शराब के नशे में जीव अपने को भूल जाता है। यह सबसे शक्तिशाली कर्म है।
5. **आयुकर्म**– जिस कर्म के उदय से जीव नाना गतियों में जाता है/जाने के लिए मजबूर होता है।
6. **नानकर्म**– जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म संसार संरचना का काम करता है। शुभ नामकर्म से सुन्दर और अशुभ नाम कर्म से विकलांग कुरूपादि शरीर प्राप्त होते हैं।
7. **गोत्र कर्म**– जैसे कुम्भकार छोटे/बड़े घड़ों का निर्माण करता है, उसी प्रकार यह कर्म जीव को उच्च या नीच आचरण वाले गोत्र में प्रतिष्ठित करता है।
8. **अन्तराय**– जो दाता और पात्र आदि के बीच विघ्न उत्पन्न करा दे, जैस भण्डारी, राजादि के लिए दानादि में हस्तक्षेप का कारण बन जाता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीव को पराड्मुखी बना देता है। कर्मो की ये आठ प्रकृति, तरंग-सिद्धान्त से विभिन्न तरंग-दैर्ध्य (wave length) वाली या उनकी विशिष्ट बारंबारता (Freguencies) में हुआ करती हैं। अलग-अलग तरंग-दैर्ध्य की कार्मण तंरगें, अलग-अलग प्रकृति/स्वभाव वाली होती हैं जैसे भिन्न-भिन्न रंगों का प्रकाश भिन्न-भिन्न तरंग दैर्ध्य वाला होता है।

2. अनुभाग बंध

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभशुभकर्मणम्।
असावनुभवी ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः।।

पूर्व में कहे शुभ-अशुभ कर्मो का जो विपाक-रस है वह अनुभाग/अनुभव कहलाता है। जिस कर्म का जैसा नाम है, उसका वैसा ही अनुभव है।

'विपाकोऽनुभवः।' (तत्त्वार्थ 8/21) स यथानाम–(वही-8/22) उदय में आकर फल देने का अनुभव बंध कहते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र काल, भव और भाव की सापेक्षतापूर्वक तीव्र या मंदभाव रूप होता है।

3. प्रदेश बंध– तत्त्वार्थसूत्र 8-24 का निम्न सूत्र प्रदेशबंध के संबंध में 6 बातों का रहस्य खोलता है–

'नामप्रत्ययाःसर्वतोयोगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहे स्थिता सर्वात्म प्रदेशस्वानान्तानन्तः प्रदेशाः'

1. प्रदेशबंध किसके कारण है? (नाम प्रत्ययाः) ज्ञानावरणदि सभी कर्म प्रकृतियों के कारण।
2. वे कर्म प्रदेश कब, कहाँ बंधते हैं? (सर्वतः) सभी भावों में।
3. किस कारण से बंधते हैं? (योग विशेषता) मन वचन और काय के परिस्पन्दन रूप योग के कारण से बंधते हैं।
4. उन कर्मो का स्वभाव कैसा है? (सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहः) सूक्ष्मरूप हैं।
5. बंधने वाले कर्म किनको बांधते हैं? (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं को।
6. वे कर्म-स्कन्ध कितनी संख्या वाले हैं? (अनंतानंत प्रदेशाः) एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं और प्रत्येक प्रदेश में प्रति समय अनंतानंत प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध बंध रूप होते रहते हैं।

4. स्थिति बंध– प्रत्येक कर्म के बंधे रहने की काल-मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं। जैसे वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरणी व दर्शनावारणी के उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी मोहनीय की 70 कोड़कोड़ी नाम व गोत्र की 20 कोड़ाकोड़ी सागर। तथा आयु की 33 सागर की होती है। इसी प्रकार जघन्य स्थिति-वेदनीय की 12 मुहूर्त, नाम व गोत्र की 8 मुहूर्त तथा शेष समस्तकर्मो की अन्तमुहूर्त है। इस प्रकार जैनदर्शन में "कर्म" का वही स्थान है जो अन्य दर्शनों में ईश्वर का। कर्म की भूमिका ईश्वर के रूप में है जो जीवों के पर्यायों की सृष्टि, संरक्षण और संहार करता रहता है।